विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

वर्ष-१९
अंक-१

विवेकानन्द चल-चिकित्सालय

दो दृश्य (विस्तृत रिपोर्ट पृ० १३१ में देखें)

ग्रामीण और आदिवासी सेवा-केन्द्र

नाम दर्ज कराने के लिए पुरुष रोगियों की कतार

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९८१ ★

सम्पादक एव प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ८)

एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

*

*

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर । ४९२००१ (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(५२ वीं तालिका)

१६३४. श्री राधाकृष्ण अग्रवाल, सारंगढ़ रोड, रायगढ़ ।
१६३५. श्री नन्थूलाल अग्रवाल, रायगढ़ ।
१६३६. श्री नूनकरण जैन, काटाभाँजी (बलांगीर)।
१६३७. श्री हनुमानदास भट्टड़, दुर्गापुर ।
१६३८. श्री एम. एस. राने, भिलाई ।
१६३९. श्रीमती प्रियंवदा बिड़ला, कलकत्ता ।
१६४०. मे० बस्तीराम रामकुमार दाल मिल्स, दिल्ली-३५ ।
१६४१. प्रधान पाठक, नवीन पूर्व माध्यमिक शाला, कवर्धा ।
१६४२. श्री एम. एस. लामघाडे, परभनी (महाराष्ट्र) ।
१६४३. श्री भालचन्द्र त्रिवेदी, बलौदा बाजार ।
१६४४. श्री अमरनाथ टिकरिया, बलौदा बाजार ।
१६४५. कृषि उपज मंडी समिति, बलौदा बाजार ।
१६४६. श्री रामकुमार सोनी, बलौदा बाजार ।
१६४७. श्री सुदेश चन्द द्विवेदी, बलौदा बाजार ।
१६४८. श्री का. बा सहस्रबुद्धे, ठाणें ।
१६४९. श्री सत्यपाल उबेराय, चण्डीगढ़ ।
६५०. श्री देवकीनन्दन झुनझुनवाला, सफदरगंज (उ. प्र.) ।
१६५१. प्रधानाध्यापक, बा. पू. मा. विद्यालय, नैला (म. प्र.) ।
१६५२. श्री प्रपन्न कुमार तिवारी, रायपुर ।
१६५३. श्री मोहन केशव व्यवहारे, नागपुर-१२ ।
१६५४. श्री बी. पी अग्रवाल, कलकत्ता ।
१६५५. प्राचार्य, शास. उ. मा. शाला, रामनगर, मंडला ।
१६५६. श्री रूपेन्द्र कुमार चन्द्राकर, दुर्ग ।
१६५७. श्री देवेन्द्र द्विवेदी, रायपर ।
१६५८. श्री एम. एल. बन्नी, दुर्ग ।

१६५९. श्री घनुकराम देशमुख, चिगरी, दुर्ग ।
१६६०. श्रीमती लक्ष्मीदेवी, वाराणसी ।
१६६१. श्रीमती विद्यावती गुप्ता, नई दिल्ली ।
१६६२. श्रीमती उर्मिला मेहता, इलाहाबाद ।
१६६३. श्रीमती शारदा सत्यल, काठमांडू ।
१६६४. श्री गौरी शंकर दुबे, अम्बिकापुर ।
१६६ . श्री बी. जी. गुप्ता, सहायक यंत्री, गुना ।

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्योरा

१. प्रकाशक का स्थान	— रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिता	— त्रैमासिक
३–५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक	— स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	— भारतीय
पता	— रामकृष्ण मिशन, रायपुर
६. स्वत्वाधिकारी	— रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी गीतानन्द ।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूं कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १९] जनवरी-फरवरी-मार्च [अंक १

★ १९८१ ★

ध्यान का प्रभाव

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं
त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं
ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ॥

—जिस प्रकार (अग्नि में) पुटपाक-विधि से शोधा हुआ सोना सम्पूर्ण मल को त्यागकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मन ध्यान के द्वारा सत्त्व-रज-तमरूप मल को त्यागकर आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है ।

—विवेकचूड़ामणि, ३६२

अग्नि-मंत्र

(श्री जे० जे० गुडविन को लिखित)

स्विट्जरलैण्ड

८ अगस्त, १८९६

प्रिय गुडविन,

मैं अब विश्राम कर रहा हूँ। भिन्न भिन्न पत्रों से मुझे कृपानन्द के विषय में बहुत कुछ मालूम होता रहता है। मुझे उसके लिए दुःख है। उसके मस्तिष्क में अवश्य कुछ दोष होगा। उसे अकेला छोड़ दो। तुममें से किसी को भी उसके लिए परेशान होने की आवश्यकता नहीं।

मुझे आघात पहुँचाने की देव या दानव किसी में भी शक्ति नहीं है। इसलिए निश्चिन्त रहो। अचल प्रेम और पूर्ण निःस्वार्थ भाव की ही सर्वत्र विजय होती है। प्रत्येक कठिनाई के आने पर हम वेदान्तियों को स्वतः यह प्रश्न करना चाहिए, 'मैं इसे क्यों देखता हूँ?' 'प्रेम से मैं क्यों नहीं इस पर विजय पा सकता हूँ?'

स्वामी का जो स्वागत किया गया, उससे मैं अति प्रसन्न हूँ और वे जो अच्छा कार्य कर रहे हैं, उससे भी। बड़े काम में बहुत समय तक लगातार और महान प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यदि थोड़े से व्यक्ति असफल भी हो जायँ तो भी उसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए। संसार का यह नियम ही है कि अनेक नीचे गिरते हैं, कितने ही दुःख आते हैं, कितनी ही भयंकर कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं, स्वार्थपरता तथा अन्य बुराइयों

का मानव हृदय में घोर संघर्ष होता है। और तभी आध्यात्मिकता की अग्नि में इन सभी का विनाश होनेवाला होता है। इस जगत् में श्रेय का मार्ग सबसे दुर्गम और पथरीला है। आश्चर्य की बात है कि इतने लोग सफलता प्राप्त करते हैं, कितने लोग असफल होते हैं यह आश्चर्य नहीं। सहस्रों ठोकर खाकर चरित्र का गठन होता है।

मुझे अब बहुत ताज़गी मालूम होती है। मैं खिड़की से बाहर दृष्टि डालता हूँ, मुझे बड़ी बड़ी हिम-नदियाँ दिखती हैं और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं हिमालय में हूँ। मैं बिलकुल शान्त हूँ। मेरे स्नायुओं ने अपनी पुरानी शक्ति पुनः प्राप्त कर ली है, और छोटी छोटी परेशानियाँ, जिस तरह की परेशानियों का तुमने जिक्र किया है, मुझे स्पर्श भी नहीं करतीं। मैं बच्चों के इस खेल से कैसे विचलित हो सकता हूँ। सारा संसार बच्चों का खेल मात्र है-- प्रचार करना, शिक्षा देना तथा सभी कुछ। **ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति**-- 'उसे संन्यासी समझो जो न द्वेष करता है, न इच्छा करता है।' और इस संसार की छोटी सी कीचड़ भरी तलैया में, जहाँ दुःख, रोग तथा मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता रहता है, क्या है जिसकी इच्छा की जा सके? **त्यागात् शान्तिरनन्तरम्**-- 'जिसने सब इच्छाओं को त्याग दिया है, वही सुखी है।'

यह विश्राम-- नित्य और शान्तिमय विश्राम--

इस रमणीक स्थान में अब उसकी झलक मुझे मिल रही है। **आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंजरेत्** ।——'एक वार यह जानकर कि आत्मा का ही केवल अस्तित्व है और किसी का नहीं, किस चीज़ की या किसके लिए इच्छा करके तुम इस शरीर के लिए दुःख उठाओगे ?'

मुझे ऐसा विदित होता है कि जिसको वे लोग 'कर्म' कहते हैं, उसका मैं अपने हिस्से का अनुभव कर चुका हूँ। मै भर पाया, अब निकलने की मुझे उत्कट अभिलाषा है। **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।** —— 'सहस्रों मनुष्यों में कोई एक लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न करता है। और यत्न करनेवाले उद्योगी पुरुषों में थोड़े ही ध्येय तक पहुँचते हैं।' **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः**——'क्योंकि इन्द्रियाँ बलवती हैं और वे मनुष्य को नीचे की ओर खींचती हैं।'

'साधु संसार', 'सुखी जगत्' और 'सामाजिक उन्नति', ये सब 'उष्ण बरफ' अथवा 'अन्धकारमय प्रकाश' के समान ही हैं। यदि संसार साधु होता, तो यह संसार ही न होता। जीव मूर्खतावश असीम अनन्त को सीमित भौतिक पदार्थ द्वारा, चैतन्य को जड़ द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है, परन्तु अन्त में अपने भ्रम को समझकर वह उससे छुटकारा पाने की चेष्टा करता है। यह निवृत्ति ही धर्म का प्रारम्भ है और उसका उपाय है,

ममत्व का नाश अर्थात् प्रेम। स्त्री, सन्तान या किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रेम नहीं, परन्तु छोटे से अपने ममत्व को छोड़कर सबके लिए प्रेम। वह 'मानवी उन्नति' और इसके समान जो लम्बी-चौड़ी बातें तुम अमेरिका में सुनोगे, उसके भुलावे में मत आना। सभी क्षेत्रों में 'उन्नति' नहीं हो सकती, उसके साथ साथ कहीं न कहीं अवनति हो रही होगी। एक समाज में एक प्रकार के दोष हैं, तो दूसरे में दूसरे प्रकार के। यही बात इतिहास के विशिष्ट कालों की भी है। मध्य युग में चोर-डाकू अधिक थे, अब छल-कपट करनेवाले अधिक हैं। एक विशिष्ट काल में वैवाहिक जीवन का सिद्धान्त कम है, तो दूसरे में वेश्यावृत्ति अधिक। एक में शारीरिक कष्ट अधिक है, तो दूसरे में उससे सहस्र गुनी अधिक मानसिक यातनाएँ। इसी प्रकार ज्ञान की भी स्थिति है। क्या प्रकृति में गुरुत्वाकर्षण का निरीक्षण और नाम रखने से पहले उसका अस्तित्व ही न था? फिर उसके जानने से क्या अन्तर पड़ा? क्या तुम रेड इण्डियनों (उत्तर अमेरिका के आदिवासियों) से अधिक सुखी हो?

यह सब व्यर्थ है, निरर्थक है--इसे यथार्थ रूप में जानना ही ज्ञान है। परन्तु थोड़े, बहुत थोड़े ही कभी इसे जान पायेंगे। **तमेवकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ**--'उस एक आत्मा को ही जानो और सब बातों को छोड़ दो।' इस संसार में ठोकरें खाने से इस एक ज्ञान की ही हमें प्राप्ति होती है। मनुष्य जाति को इस

प्रकार पुकारना कि **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** --'जागो, उठो, और ध्येय की उपलब्धि के बिना रुको नहीं।' यही एकमात्र कर्म है। त्याग ही धर्म का सार है, और कुछ नहीं।

ईश्वर व्यक्तियों की एक समष्टि है। फिर भी वह स्वयं एक व्यक्ति है, उसी प्रकार जिस प्रकार मानवी शरीर एक इकाई है और उसका प्रत्येक 'कोश' एक व्यक्ति है। समष्टि ही ईश्वर है, व्यष्टि या अंश आत्मा या जीव है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व जीव पर निर्भर है, जैसे कि शरीर का उसके कोश पर, इसी प्रकार इसका विलोम समझो। इस प्रकार, जीव और ईश्वर परस्परावलम्बी हैं। जब तक एक का अस्तित्व है, तब तक दूसरे का भी रहेगा। और हमारी इस पृथ्वी को छोड़कर अन्य सब ऊँचे लोकों में शुभ की मात्रा अशुभ से अत्यधिक होती है, इसलिए वह समष्टिस्वरूप ईश्वर, शिवस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ कहा जा सकता है। ये प्रत्यक्ष गुण हैं और ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें प्रमाणित करने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं।

ब्रह्म इन दोनों से परे है और वह कोई विशिष्ट अवस्था नहीं है। यह एक ऐसी इकाई है, जो अनेक की समष्टि से नहीं बनी। यह एक ऐसी सत्ता है, जो कोश से लेकर ईश्वर तक सबमें व्याप्त है और उसके बिना किसी का अस्तित्व नहीं हो सकता। वही सत्ता अथवा ब्रह्म

वास्तविक है। जब मैं सोचता हूँ, 'मैं ब्रह्म हूँ', तब मेरा ही यथार्थ अस्तित्व होता है। ऐसा ही सबके बारे में है। विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वरूपत: वही सत्ता है।...

कुछ दिन हुए कृपानन्द को लिखने की मुझे अकस्मात् प्रबल इच्छा हुई। शायद वह दु:खी था और मुझे याद करता होगा। इसलिए मैंने उसे सहानुभूतिपूर्ण पत्र लिखा। आज अमेरिका से खबर मिलने पर मेरी समझ में आया कि ऐसा क्यों हुआ। हिम-नदियों के पास से तोड़े हुए पुष्प मैंने उसे भेजे। कुमारी वाल्डो से कहना कि अपना आन्तरिक स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसे कुछ धन भेज दें। प्रेम का कभी नाश नहीं होता। पिता का प्रेम अमर है, सन्तान चाहे जो करे या जैसे भी हो। वह मेरा पुत्र जैसा है। अब वह दु:ख में है इसलिए वह समान या अपने भाग से अधिक मेरे प्रेम तथा सहायता का अधिकारी है।

शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

❁

"अनेक लोग जीवन में आघात पाने के बाद ईश्वर का नाम लेते हैं। लेकिन वह व्यक्ति धन्य है, जो बाल्यकाल से ही भगवान् के चरणों में अपने मन को फूल के समान चढ़ा देता है।"

श्री माँ सारदा

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

माँ का एक त्यागी शिष्य जयरामबाटी में दो-तीन वर्ष से मलेरिया से खूब भुगत रहा था। वह जलवायु-परिवर्तन के लिए अपने गुरुभाई एक डाक्टर के यहाँ कटिहार में रह रहा था। कुछ समय वहाँ रहने पर गुप्तचर पुलिस उस पर सन्देह करने लगी। डाक्टर के दो भाई उग्र-क्रान्तिकारी दल से सम्बन्धित थे और उस समय फरार थे, उन लोगों से इसका सम्बन्ध मानकर पुलिस उस साधु को पकड़कर रोक रखने की चेष्टा करने लगी। डाक्टर बाबू उच्चपदस्थ सरकारी नौकरी में थे, इसलिए उन्होंने जमानत ले उस साधु को मुक्त रखा, पर इस शर्त पर कि जब भी पुलिस बुलाएगी, वे उस साधु को उन लोगों के सामने उपस्थित कर देंगे। कुछ महीनों बाद उस साधु का जयरामबाटी लौटने का प्रयोजन हुआ। इससे वह कटिहार से जयरामबाटी लौट आया। उस समय माँ कोआलपाड़ा के आश्रम में रह रही थीं। शिष्य के लौट आने पर और उसका अच्छा स्वास्थ्य देख माँ का मन विशेष आनन्दित हुआ। किन्तु जब लोगों ने जाना कि वह तब भी पुलिस की निगरानी में है और डाक्टर ने उसके लिए बहुत रुपये की जमानत ली है, तो सभी सशंकित हो उठे और उसका माँ के पास रहने का विरोध करने लगे। सब यही बात कहने लगे कि वह वापस कटिहार चला जाय और डाक्टर के यहाँ तब

तक रहे, जब तक वह पुलिस वाला मामला पूरी तरह से सुलझ नहीं जाता। वह साधु भी सबकी तर्कसंगत बातें सुन और विशेषकर यह सोच कि उसे लेकर कहीं पुलिस माँ के यहाँ किसी प्रकार आफत उपस्थित न करे, वापस लौटने के लिए तैयार हो गया।

उस समय जयरामवाटी और कोआलपाड़ा आश्रम के प्रति पुलिस की सशंक दृष्टि थी। फिर उसके ऊपर पुलिस के इस निगरानीशुदा व्यक्ति को देख अवस्था और संगीन हो सकती है, ऐसा सोच सभी चिन्तित हो उठे थे। किन्तु माँ अपनी उस त्यागी सन्तान को किसी प्रकार भी छोड़ने के लिए राजी नहीं हुईं। उसके लौट जाने की बात सुनते ही वे दुःखी हो रोने लगीं। "ठाकुर की इच्छा से जो होना होगा होगा, लड़का यहीं मेरे पास रहेगा"--माँ के द्वारा इस प्रकार का अभिप्राय व्यक्त करने पर सभी मुश्किल में पड़ गये। साधु भी दुविधा में पड़ गया। एक ओर माँ उसे छोड़ना नहीं चाहतीं और उसकी भी माँ के पास रहने की प्रबल इच्छा है, और दूसरी ओर दूसरे सब लोग हैं, जिनकी लौट जानेवाली युक्तिपूर्ण बात को टाला भी नहीं जा सकता। सब प्रकार से समर्थ पुलिस पता नहीं क्या करे? वह यहाँ माँ के घर में भी आफत खड़ी कर सकती है और वहाँ कटिहार में निरपराध भक्त को भी घोर विपत्ति में डाल सकती है। ऐसा सोच साधु ने ही निश्चित किया, किन्तु माँ किसी प्रकार भी लड़के को नहीं

छोड़ेंगी ! अधीर हो रोने लगीं। उनके उस प्रकार एक नादान बालिका के समान आकुल हो अश्रुपात करने से सभी व्यथित हो उठे। लड़का भी माँ का स्नेह और अपने लिए व्याकुलता देख रोने लगा। माँ सन्तान को फिर से दूर देश में पुलिस के फन्दे में भेजने को राजी नहीं थीं। इस विषम परिस्थिति ने सभी को चिन्तित कर दिया। थोड़े दिनों पहले ही माँ मलेरिया से ठीक हुई थीं। उनकी अच्छी चिकित्सा के निमित्त पूजनीय शरत् महाराज, पूजनीया योगीन माँ और कई सेवक-सेविकाएँ एवं भक्तवृन्द उस समय वहीं पर थे। सबने अच्छी तरह सोच-विचारकर उस साधु को माँ के पास भेजा, जिससे वह माँ को सभी बातें अच्छी तरह बतलाकर उस भक्त डाक्टर पर आ सकनेवाली विपत्ति की आशंका की बात भी समझा दे। तब वह माँ के पास गया और धीरे धीरे उसने सब लोगों की आशंका और डाक्टर पर आ सकनेवाली विपत्ति की बात माँ को निवेदित की। उसके मुख से सब बातें सुन, विशेषकर डाक्टर की नौकरी और धन-सम्पत्ति के नष्ट होने की आशंका की बात जान माँ चुपचाप आँसू बहाने लगीं। माँ के अन्य प्रिय एवं विश्वस्त व्यक्तियों ने भी जाकर माँ को सब बातें स्पष्ट रूप से समझायीं। विशेष रूप से जब माँ को यह भी पता लगा कि पूजनीय शरत् महाराज का भी मत उसे कटिहार भेज देने का है, तब अन्त में निरुपाय हो माता-पुत्र दोनों ने ही अश्रुपूरित नेत्रों से एक दूसरे से विदा ली। माँ के

नेत्रों से कई दिनों तक लड़के की बात याद आने पर आँसू बहने लगते। बाद में धीरे धीरे माँ ने अपने को सँभाला।

यद्यपि उस समय विशेष कोई झमेला नहीं हुआ था, पर शिरोमणिपुर पुलिसथाने का दरोगा अपने उच्च अधिकारियों के आदेश पर माँ के घर में उसी साधु के बारे में पूछताछ करने के लिए आया था। एक दिन पूर्व गाँव के कोटवार से उसके आने की बात जान सभी चिन्तित हो उठे थे, पर यह नहीं जाना जा सका था कि माँ पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई थी। दूसरे दिन सुबह माँ के कृपापात्र शिष्य, आरामबाग के वकील मणीन्द्रबाबू माँ के दर्शनार्थ आ पहुँचे। उनके आगमन से सभी प्रसन्न और आश्वस्त हुए तथा दरोगा के आने की बात बतला उन्हें रात्रि में वहीं रुकने के लिए कहा गया। सन्ध्या के पहले दरोगा वहाँ आया। मणीन्द्रबाबू ने उसे सम्मानपूर्वक बिठाया और उससे बातचीत की। दरोगा ने बातचीत में किसी किसी से पूछकर अपने ज्ञातव्य विषय को जान लिया। माँ ने इसी बीच उन लोगों के जलपान के लिए अपने हाथों से हलवा तैयार कर लिया और उन लोगों को बुला भेजा। शिष्यगण दरोगा को मकान के भीतर ले गये। उसने माँ को भक्तिभाव से प्रणाम किया। माँ भी पास में बैठकर बड़े स्नेह से उसे खिलाने लगीं। दरोगा ने खाते खाते माँ के साथ बातें करते हुए बीच बीच में प्रश्न करके अपना छानबीन का काम पूरा कर

लिया। मुख में पान दबा उसने माँ से विदा माँगी। माँ ने भी उसे प्रसन्नचित्त से आशीर्वाद दिया और स्नेहपूर्वक विदा दी। इस प्रकार चिन्ता के एक विषय --पुलिस की छानबीन--को सहज सरल रूप से सम्पन्न हो गया देख उपस्थित सभी का मन प्रसन्न हो गया। कुछ लोगों ने एक बात का विशेष अनुभव किया था। दरोगा जब आया था, तब उसका चेहरा तनाव से भरा और चिन्तामग्न दिखायी पड़ रहा था। मणीन्द्रबाबू के साथ भी उसकी स्पष्ट रूप से बातचीत हुई हो ऐसा नही लगा था। यहाँ तक कि मकान के भीतर प्रवेश करते समय भी वह अपना सिर झुकाये चिन्तामग्न धीरे धीरे चल रहा था। किन्तु माँ के पास जाने के बाद ही, विशेषकर जब माँ पास में बैठ स्नेहपूर्वक खिलाने लगीं, उसकी आँखों का भाव बदल गया और उनमें प्रसन्नता की चमक खेल उठी। लगा कि वह अपनी स्वयं की माँ या पुत्री के समीप बैठ सरस बातें करते हुए खा रहा हो। बिदा के समय उसने सभी के साथ प्रसन्नचित्त से निस्संकोच बातचीत की थी और अपने प्रियजन के समान उन्हें नमस्कारादि कर वह वापस गया था।

माँ! तुम्हारी बातों में, व्यवहार में--विशेष रूप से सन्तानों को कुछ खिलाने-पिलाने में क्या माधुर्यमय जादू था, यह तो तुम्हीं जानो!

जयरामवाटी में पुलिस की नजर रहने सम्बन्धी

इस घटना के करीब एक माह पूर्व की एक घटना का उल्लेख करना भी जरूरी है। बंगदेश के राजनैतिक दलों की तोड़-फोड़ की गतिविधियों के बढ़ने और स्त्रियों के भी उसमें भाग लेने के साथ जयरामवाटी पर पुलिस के इस प्रकार नजर रखने का कोई सम्बन्ध था या नहीं यह तो पता नहीं, पर जयरामवाटी और कोआलपाड़ा में कौन आता-जाता था उसकी खोजबीन के लिए उस समय पुलिस निस्सन्देह तत्पर रहा करती थी। पुलिस के निकट 'माताजी का आश्रम' के नाम से परिचित माँ के मकान में कुछ समय पूर्व से प्रत्येक रात को चौकीदार आकर अभ्यागत लोगों का परिचय, नाम, ठिकाना, 'कहाँ से आये हैं' और 'कहाँ जाएँगे' आदि विवरण लिखकर ले जाता था एवं यथासमय थाने में जाकर दे आता था। इसी समय सब समय पहरा रखने के लिए चौकी-दार के ऊपर एक दफादार भी नियुक्त हुआ था और दिन-रात कौन आता-जाता है इसकी खोज-खबर ली जाती थी। राजनीति से जुड़े हुए लोग पहले सुबह ही माँ के यहाँ आ जाते थे और उनमें से प्रायः अनेक सन्ध्या के पूर्व ही दर्शन कर लौट जाते थे, इसलिए चौकीदार के खाते में उनका नाम नहीं आ पाता था। किन्तु अब तो दिन-भर चौकीदार और दफादार का बार बार आना और यह पूछना कि कौन आता है, कौन जाता है, विरक्तिकर हो उठा था। यही नहीं, इन सब आनेवालों के घर में--उनके जन्मस्थान में भी वहाँ पुलिस के

मार्फत खोज-पड़ताल चलती और कभी कभी अजीब कल्पना के सहारे ऐसी बातें गढ़ दी जातीं कि उससे अनर्थक अशान्ति की सृष्टि होती।

जयरामवाटीं आनेवाले अधिकांश लोग कोआलपाड़ा होकर ही आते जाते। कोआलपाड़ा में माँ के आश्रम में—बैठकखाने में भी इस प्रकार जाँच-पड़ताल की व्यवस्था थी। कामारपुकुर से तीन-चार मील पूर्व में नवासन गाँव में एक स्थानीय भक्त के प्रयास से एक आश्रम बना था। आरामबाग-चाँपाडाँगा पथ से जयरामवाटी आनेवाले भक्त उस आश्रम में विश्राम करते। पूर्वी बंगाल के दो-एक युवक साधु कभी कभी वहाँ आकर रहते थे। वहाँ भी पुलिस की तीक्ष्ण दृष्टि थी और बाद में पुलिस के उपद्रव के कारण ही वह आश्रम बन्द हो गया। यद्यपि पुलिस माँ के घर पर भी तीक्ष्ण दृष्टि रखत', पर वहाँ उसने कभी उपद्रव या अत्याचार नहीं किया। फिर भी उसने सभी के मन में दहशत और आशका की आग सुलगा रखी थी इसमें कोई सन्देह नहीं।

जयरामवाटी बाँकुड़ा जिले के अन्तर्गत आता है। वहाँ के पुलिस डिप्टी सुपरिटेंडेंट के साथ माँ के बाँकुड़ा-निवासी शिष्य श्रीयुत विभूतिबाबू का परिचय था। विभूतिबाबू स्कूल में शिक्षक थे, वे प्रायः प्रति शनिवार को स्कूल शेष होने के बाद बाँकुड़ा से ट्रेन द्वारा गड़बेता आते और ८–१० कोस पैदल चलकर माँ के घर पहुँचते

तथा रविवार की शाम को या सोमवार की सुबह वापस लौट जाते। माँ की सेवा के लिए विभूतिबाबू सदा तैयार रहते एवं कष्ट होने पर भी सारे कार्य आग्रह-पूर्वक पूरा करते। जिससे माताजी के आश्रम के प्रति पुलिस की दृष्टि अच्छी रहे इस उद्देश्य से विभूतिबाबू ने डी० एस० पी० को एक बार जयरामवाटी लाकर माँ के दर्शन कराने की व्यवस्था की। जगद्धात्री पूजा के दो-चार दिन बाद पुलिस-अधिकारी शिरोमणिपुर पुलिस चौकी में आये थे। वहाँ से पालकी में चढ़कर वे माँ के घर पहुँचे। उस समय माँ के अनेक भक्त-शिष्य वहाँ उपस्थित थे। डी० एस० पी० को उचित मान-सम्मान दे बिठाया गया। वे मकान इत्यादि देख विभूतिबाबू के साथ माँ के दर्शन करने घर के भीतर गये। माँ के घर के बरामदे में उनके जलपान की व्यवस्था की गयी थी। वहाँ उन्होंने माँ के दर्शन किये, जलपान किया और माँ के साथ बातचीत की। पर यह सब देखने-सुनने का मौका हम लोगों को नहीं लगा। वे वहाँ से कुछ समय बाद उठकर मकान के आँगन में आकर खड़े हो गये। माँ भी वहाँ आकर उनके सम्मुख खड़ी हुईं। वे विदा लेने लगे। वहाँ माँ के साथ उनके वार्तालाप की दो-चार बातों से समझ में आया कि उन दोनों के बीच पुलिस की सख्ती सम्बन्धी बातें हुई थीं। पुलिस-अधिकारी नें हँसते हुए माँ से पुलिस द्वारा सदा-सर्वदा खोज लेने के विषय में पूछा, "इस सबसे भय तो नहीं लगता ?" सभी काम में

अग्रणी विभूतिबाबू ने तुरन्त उत्तर दिया, "भय क्यों लगेगा ? किसका भय ?" चारों तरफ बहुत से लोग खड़े थे, सभी चुपचाप थे। पुलिस-अधिकारी माँ के चेहरे को ताक रहे थे। माँ उनके मुख की ओर देख जैसे एक छोटी बच्ची अपने पिता के साथ अपनत्व-पूर्वक स्नेह-भरे स्वर में बोलती है वैसे ही सुमधुर स्वर में बोलीं, "हाँ बेटा ! मुझको डर लगता है।" कड़े हृदय वाले वीरवर पुलिस-अधिकारी की हृदयतन्त्री उस स्वर-लहरी से झंकृत हो उठी। वे भी उसी प्रकार जैसे एक पिता दूर देश जाते समय अपनी लाड़ली बेटी को धीरज बँधाते हुए कहता है, साहस देते हुए कहने लगे, "कोई भय नहीं है, माँ, मैं सब ठीक करके जाऊँगा।" माँ की ओर ताककर वे प्रसन्नचित्त हो पालकी में बैठे और वापस चल पड़े। माँ भी उस क्षण करुणाभरी दृष्टि से एक कन्या के समान ही ताक रही थीं। पता नहीं माँ की सुमधुर वाणी एवं करुणाभरी दृष्टि पुलिस-अधिकारी के कठोर आवरण को चीरकर उसके भितर किसी प्रकार का स्थायी चिह्न डालने में समर्थ हुई थी या नहीं, किन्तु उस समय इस अलौकिक 'कन्या' की स्नेह-प्रीति ने उसके हृदय को निश्चय ही स्निग्ध एवं सुशीतल कर दिया था।

यद्यपि माँ के कोई कोई शिष्य एवं उनके मित्रगण सरकार-विरोधी राजनैतिक आन्दोलन आदि कार्यों से जुड़े हुए थे और जयरामवाटी में पुलिस की सतत सतर्क

दृष्टि बनी हुई थी, फिर भी उस पुलिस-अधिकारी की चेष्टा से हो या अन्य किसी कारण से, श्री माँ और उनके सेवक-सेविकाओं, संगियों, परिवार के लोगों और आत्मीय-स्वजनो में से किसी को भी किसी प्रकार की झंझट में नहीं पड़ना पड़ा। यह कल्पना करने से ही सिहरन होती है कि उस समय जिस प्रकार पुलिस कई स्थानों में अकथनीय अत्याचार कर रही थी, उसका तनिक भी माँ के घर में करती, तो क्या होता !

माँ केवल अपने द्वारा दीक्षित शिष्य-शिष्याओं पर ही अपार कृपा करती थीं, ऐसा नहीं है। उनके पास जो भी 'माँ' कहकर आता, वही उनका स्नेह पाकर धन्य हो जाता। यहाँ तक कि, माँ न कहकर भी जिसने उनकी दृष्टि के सामने अन्य दूसरे कार्य से भी आने का सुयोग-सौभाग्य पाया था, उसने भी उनकी अहैतुक करुणा और अपार मातृस्नेह का आस्वादन कर अपने हृदय में शान्ति का अनुभव किया था। भले ही वह स्मृति इस जीवन में मानस-पटल पर सदैव उज्ज्वल न बनी रहे, पर वह कभी विलुप्त होनेवाली नहीं है; त्रिताप जब असहनीय ज्वाला से दग्ध करेंगे, तब उसी छिपे हुए उत्स से शान्ति-वारि प्रकट होगा और हृदय को शीतल कर देगा। जो भाग्यवान् हैं, उनके परलोक की भी वही मुखछबि संगिनी होगी। इसमें सन्देह नहीं कि पुलिस वेशधारी इन सब लोगों के पूर्व जन्म-जन्मातरों के बहुपुण्य रहे होंगे।

जीवन में कब किसके पुण्य फलेंगे यह सामान्य

मनुष्य की समझ से परे है। श्री माँ की कृपा अनेक पुण्यों के फलस्वरूप जीवन में अकस्मात् आ उपस्थित होती थी। हमारा एक विशेष परिचित युवक उस समय कलकत्ते में डाक्टरी पढ़ रहा था। उसका वैष्णव परिवार में जन्म हुआ था, उसने माँ और ठाकुर की बातें सुनी थीं, उनके प्रति वड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। दीक्षा लेने की उसकी कभी कभी इच्छा होती, पर वहाँ किसके पास दीक्षा ले यह कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा था। कुलगुरु के प्रति वचपन में एक आकर्षण अवश्य था, पर वह धीरे धीरे कम हो गया था। डाक्टरी पढ़ते समय कलकत्ते में जिस ढाबे में वह रहता था, वहाँ एक दिन हठात् माँ का एक शिष्य आया। उससे उसका पूर्व परिचय था। वह श्री माँ के दर्शन करने जयरामवाटी जा रहा था। उसके जयरामवाटी जाने की बात सुन इसके भी मन में श्री माँ के दर्शन के लिए जयरामवाटी जाने और माँ से दीक्षा लेने की आकांक्षा जगी। तब वह अधीर हो सारी असुविधाओं को भूलकर उस पूर्व परिचित के साथ जयरामवाटी रवाना हुआ। वहाँ जाकर उसकी मनोकामना पूर्ण हुई। श्री माँ के दर्शन और उनकी कृपा प्राप्त करके उसका जीवन धन्य हुआ। उसके बाद से उसका जीवन-स्रोत भगवान् की ओर निर्दिष्ट धारा में प्रवाहित हो चला। धीरे धीरे वह ठाकुर और माँ की असीम स्नेह-कृपा विशेष रूप से उपलब्ध करने लगा। बाद में उसके परिवार के सभी लोग ठाकुर और

माँ के चरणाश्रित हुए थे।

एक अन्य भक्त श्री माँ के एक अन्य शिष्य के पास उनकी अपार करुणा की बात सुन उनके दर्शन के लिए अत्यन्त आतुर हो गया था। माँ उस समय देश में थीं। तब विष्णुपुर से बैलगाड़ी में जयरामवाटी जाना-आना एक कष्टप्रद यात्रा थी। वह मन ही मन बड़ा चिन्ति था कि ऐसे समय एक दिन स्वप्न में उसने देखा––वह जयरामवाटी में माँ के पास उपस्थित है और माँ उसको परम स्नेह से स्वयं का प्रसादी दूध-भात खाने के लिए दे रही हैं।

स्वप्न में ऐसा दिव्य दर्शन पा उसकी आकांक्षा तीव्रतर हो उठी और असुविधाओं के बावजूद वह जयरामवाटी रवाना हुआ। उसके मन में दीक्षा लेने का आग्रह न था। माँ के दर्शन कर उनकी असीम स्नेह-ममता का आस्वादन पा उसका हृदय पूर्ण हो उठा। उसमे भी आश्चर्य की बात तब हुई, जब दोपहर में भोजन के उपरान्त उसके विश्राम करते समय माँ ने उसे बुलवाया और एक कटोरी में स्वयं ग्रहण किय दूध-भात के अवशेष को उसे देकर परम स्नेह से कहा, "बेटा, खाओ।" भक्त का हृदय आनन्द से भरपूर हो उठा, प्राणों की साध मिटा उसने माँ का स्नेहामृत प्रसाद ग्रहण किया। स्नान के बाद उसने गोले कपड़े धूप में सुखा दिये थे। जब दोपहर में विश्राम के बाद वह कपड़ों को उतारने गया, तो उन्हें न पा चिन्तित हो

उठा। बाद में देखा, माँ ने स्वयं कपड़ों को उतारकर सुन्दर ढंग से सहेजकर रख दिया है। माँ उसे कपड़े देते हुए बोलीं, "बेटा, धूप में ज्यादा सुखाने से कपड़ा नष्ट हो जाता है न, इसलिए उतारकर रख दिये थे।" इस प्रकार थोड़े समय में ही माँ की अपार कृपा और स्नेह-ममता से पूरी तरह से परितृप्त हो वह माँ के घर से लौटा। पहले उसने सुन रखा था, अब तो प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा कि माँ किस प्रकार अपनी सन्तानों के लिए कठोर परिश्रम करती हैं, बड़ा कष्ट उठाती हैं। इसीलिए और अधिक दिन रहना उसने उचित न समझा। उसने माँ के दर्शन को और उनकी स्नेह-ममता प्राप्त करने को ही जीवन की चरम सार्थकता समझा था। उसके अन्तर में दीक्षा लेने की कभी आकांक्षा नहीं जागी। माँ का साक्षात् दर्शन ही दीक्षा और साधना का फल है —वह इसी धारणा से परितृप्त हो लौटा था। माँ का जो शिष्य जैसा चाहता, वे उस पर उसी प्रकार कृपा करतीं। उनका कृपा-कटाक्ष ही मोक्ष है, यथार्थ तत्त्व-बोध है—'माँ-सन्तान'-प्रत्यय का अपरोक्ष अनुभव है।

जयरामवाटी में माँ सब बेटों को आगे खिलाकर फिर अन्य स्त्रियों के साथ खाने बैठती थी, इसीलिए उनके भोजन के बाद बेटों का प्रसाद पाना बड़ी कठिन बात थी। एक बार माँ की जन्मतिथि पर बेटों ने उन्हें पकड़ा कि माँ का भोजन पहले हो जाय, फिर वे लोग प्रसाद पाएँगे। माँ ने उस दिन आपत्ति नही की। माँ ने

जब श्री ठाकुर को भोग लगा दिया, उसके बाद नलिनी दीदी के कमरे में उनको एक अच्छे आसन पर बिठा दिया गया और उनके सामने समस्त भोग की वस्तुएँ उसी प्रकार सजा दी गयीं, जैसे किसी ठाकुर-देवता को अर्पित की जाती हैं। माँ अकेली ही भोजन करने बैठीं, किन्तु दो-तीन कौर मुख में देने के बाद ही एक शिष्य सन्तान से जो सब विषयों की देखभाल कर रहा था, कातर स्वर से बोलीं, "बेटों के खाने के पहले गले के नीचे भोजन नहीं उतरता।" माँ के मुख की ओर देखने पर उनकी कातर अवस्था देख सन्तान को ऐसा लगा कि माँ के साथ अन्याय हो रहा है। माँ को देवी सजा देने से आज उनका खाना ही नहीं हुआ। बेटों को पहले खिलाकर फिर बेटियों के साथ स्वाभाविक रूप से खाने देना ही उचित था। "तुम लोगों के खाने की जगह जल्दी तैयार करो" कहकर माँ उठ गयीं। खाने की सब चीजों को मात्र थोड़ा थोड़ा चखा भर। उस दिन की अनेक बातों ने चित्त को आकर्षित किया था। उनमें से दो का उल्लेख करेंगे। उस समय माँ की जन्मतिथि पर बहुत से शिष्य और साधु-भक्त जयरामबाटी में एकत्रित हुए थे और बड़ी धूमधाम से उत्सव का आयोजन हुआ था। सुबह ठाकुरजी की पूजा के पश्चात् माँ खाट में बिछौने पर बैठ सन्तानों की पूजा ग्रहण करती रहीं। उद्बोधन से पूजनीय कपिल महाराज नये कपड़े, फल, मिठाई आदि बहुत सी चीजें लेकर आये थे। पूजनीय शरत् महाराज,

योगीन-माँ, गोलाप-माँ और अन्य लोगों ने कई प्रकार की चीजें भेजी थीं। माँ नये वस्त्र पहिन पश्चिम की ओर मुख करके गोद में दोनों हाथ रख पैर नीचे झुला-कर बैठीं। उनका मुखमण्डल प्रसन्न था और नेत्र करुणा से भरे थे। एक सन्तान ने माँ के बगीचे के पीले एवं कत्थई रंग के गेंदा फूलों की मनोहर माला तैयार की था। वह कपिल महाराज ने माँ के गले में पहिना दी। वह लम्बी माला शुभ्र वस्त्र और काले केशों के बीच ऊपर से नीचे तक झूलती हुई बड़ी ही शोभन हुई थी। माँ का मुखमण्डल आज असाधारण रूप से श्रीमण्डित लग रहा था। कमरा नैवेद्या, सुन्दर पुष्प, सुगन्धित फूल और उज्ज्वल दीपादि से सुशोभित हो देवलोक का भाव ला रहा था। पहले वरिष्ठ संन्यासीगण, बाद में ब्रह्म-चारी और भक्त लोग माँ के चरणों में पुष्पांजलि प्रदान कर भक्तिपूर्वक प्रणाम करने लगे। बाहर के लोगों ने भी, जो किसी कार्य से वहाँ उपस्थित थे, मुग्ध हो तथा हाथ जोड़ माँ के दर्शन किये और किसी किसी ने पुष्पां-जलि दे चरणस्पर्श कर प्रणाम किया। यह तो ठीक था कि माँ आज कल्पतरु बनी थीं--सभी के ऊपर अयाचित रूप से कृपा का वर्षण कर रही थीं, परन्तु बाद में किसी किसी सन्तान के मन में आया था कि यह काम ठीक नहीं हुआ। उन्हें लगा था कि सब लोगों ने जो माँ के चरणों का इस प्रकार स्पर्श किया, उसकी प्रतिक्रिया कष्टप्रद होगी। और हुआ भी वैसा था। उसी दिन

शाम को माँ ज्वर-ग्रस्त हो गयीं और उनकी देह में भयानक जलन और यंत्रणा होने लगी।

उस दिन दोपहर से थोड़ा पहले जब घर में सब लोग उत्सव के आनन्द में मस्त थे, बाहर के कमरे (बैठकखाने) में परम उल्लास के साथ खूब भजन-कीर्तन चल रहा था और भीतर में भोग के निमित्त नाना प्रकार के व्यंजन बन रहे थे। ऐसे समय में देखा गया कि माँ रसोईघर के बरामदे में अपने हाथ से कूट-पीसकर एक छोटे से चूल्हे में मँझली मामी के लिए पथ्य तैयार कर रही हैं। बाद में पथ्य को एक बर्तन में रख वे स्वयं मामी के घर में उसे पहुँचा आयीं। मामी प्रसूति-घर में थीं--अस्वस्थ थीं, कुछ ही दिन पूर्व उनके कनिष्ठ पुत्र विजय का जन्म हुआ था। मामी के घर में और कोई महिला नहीं थी। माँ ही स्नेहपूर्वक सब देख-भाल और परिचर्या आदि करती थीं। माँ के इस विलक्षण कार्य को देख मन में प्रश्न उठा--भला आज किसकी जन्मतिथि पर यह उत्सव आयोजित है, भला किसके लिए यह धूमधाम है? क्या यही पद्मपत्र पर पड़े जल-बिन्दु की भाँति निर्लिप्तता है? क्या बड़े घर की नौकरानी के समान रहना इसी को कहते हैं? माँ को उपलक्ष बनाकर ही तो सन्तानों की मौज-मस्ती है, और इधर देखो तो माँ सम्पूर्ण रूप से निर्लिप्त हैं। उनके भीतर तनिक भी चंचलता नहीं है!

(क्रमशः)

राष्ट्रोन्नति का उपाय

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के परमाध्यक्ष हैं। श्री रामकृष्ण आश्रम, बँगलोर के नवनिर्मित 'स्वामी विवेकानन्द शताब्दी सभागृह' के उद्घाटन के अवसर पर उन्होंने ७ सितम्बर १९८० को जो अँगरेजी में आशीर्वादात्मक भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का अनुवाद है। –स०)

आज भारत संकटकाल में से गुजर रहा है। और भारत क्यों, सारा विश्व ही। भारत में हम अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दुर्व्यवस्था पाते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा को ही ले लें। यद्यपि हमें मानवी ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के व्यावहारिक विषयों की शिक्षा दी जाती है, पर उन सबका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। हमारी प्राचीन शिक्षाप्रणाली में ऐसा नहीं था। हमारी शिक्षा का प्रथम लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह भारत के भावी नागरिकों को राष्ट्र के सांस्कृतिक आदर्शों को हृदयंगम कराए, क्योंकि उसी से वे भारत के सच्चे नागरिक बन सकते हैं। इस सन्दर्भ में हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली एकदम असफल रही है। फल यह हुआ है कि छात्र अपनी सांस्कृतिक जड़ों से, जिनके द्वारा राष्ट्र संघटित था, दूर होते जा रहे हैं। आर्थिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार की दुर्व्यवस्था विद्यमान है। गरीबी को दूर करने के हमारे प्रयासों के बावजूद जनसाधारण की दशा बद से बदतर होती जा रही है। कभी कभी हम ऐसे

कथन सुनते हैं कि "राष्ट्रीय आय में चार प्रतिशत की वृद्धि हुई है"। यह सही हो सकता है, पर गरीबों को इसका कोई लाभ नहीं मिलता, क्योंकि इस वृद्धि का अत्यल्प अंश ही उन तक पहुँच पाता है। जब तक उनको आर्थिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक अवस्थाओं में उन्नति नहीं होगी, देश के लिए कोई आशा नहीं है। इसे कारगर करने के लिए केवल सरकार का मुँह जोहने से नहीं चलेगा, परन्तु समाज को एक होकर इस कार्य को अपने हाथ में लेना होगा। धनिकों को उनकी दशा सुधारने के लिए सामने आना पड़ेगा और उनकी सहायता करनी होगी--इससे केवल जनता का और देश का ही भला नहीं होगा, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से उनका स्वय का भला होगा। वे चिरकाल तक के लिए सामाजिक एवं अन्य वैषम्यों के इस ऐकान्तिक विशेषाधिकार को भोगते रहने की आशा नहीं कर सकते। वे जनता की सहायता के लिए जितना शीघ्र आगे आएँगे, उनके तथा देश के लिए उतना ही अच्छा है।

प्राचीन युग में समाज की संरचना समाजवादी आधार पर हुई थी। प्रत्येक से यह आशा की जाती थी कि वह किसी न किसी प्रकार समाज और देश की सेवा करे। साथ ही समाज ने व्यक्ति को जीवन का आनन्द लेने के लिए कुछ छूट भी दी थी, पर कुछ सीमाओं के साथ, जिससे राष्ट्र का जीवन अव्यवस्थित न हो उठे। किन्तु आज तो हम राष्ट्रीय जीवन में एकदम उल्टी ही

बात पाते हैं, जिसके कारण ऐसी गम्भीर समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं, जिनका हम समाधान नहीं कर पा रहे हैं। उदाहरण देकर इन बातों को बताने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। उद्योग, श्रम और व्यवसाय के क्षेत्र म जो हाल है, उससे हम सभी भली-भाँति परिचित हैं। ये सारे क्षेत्र आत्यन्तिक स्वार्थपरता से विषाक्त हो गये हैं, जहाँ मौलिक अधिकारों का नारा तो लगाया जाता है, पर राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का बोध नहीं कराया जाता। राजनीतिक क्षेत्र में तो हालात और भी खराब हैं।

हाल ही में कलकत्ता में फुटबाल टूर्नामेण्ट के समय एक दुखद घटना घट गयी। दो विरोधी टीमों के प्रशंसक आपस में भिड़ गये, जिससे दस लोगों की जान गयी और लगभग पचास लोग आहत हुए। सारा शहर यह जानकर स्तब्ध हो गया। दूसरे दिन आकाशवाणी पर एक कार्य-क्रम हुआ, जिसमें भिन्न भिन्न क्षेत्रों के कई लोगों से भेंट-वार्ता ली गयी--कल जो घटा था, उस पर उनका मता-मत जानने के लिए और विशेष करके यह ज्ञात करने के लिए कि टूर्नामेण्ट को चलाया जाना चाहिए या नहीं। अधिकांश लोगा ने टूर्नामेण्ट को बन्द कर देने के पक्ष में अपना निर्णय दिया। पर एक व्यक्ति ने घटना की युक्ति-युक्त समीक्षा की और कहा, "टूर्नामेण्ट को बन्द करने का औचित्य क्या है ? हमारे राष्ट्रीय जीवन के दूसरे क्षत्रों में रोजमर्रा जो घटनाएँ घटती हैं यह भी उनमें से एक है। ये तो उस रोग के बाहरी लक्षण हैं, जिसने समूचे

राष्ट्र-जीवन को विषाक्त कर रखा है। राष्ट्रीय दृष्टि-कोण में मौलिक परिवर्तन लाना ही इस रोग का निदान है।" उस व्यक्ति ने रोग को सही सही पहचाना। संकट बाहर की दुनिया में नहीं है, वह तो मनुष्य के अन्तर्मन में है। संसद में कानून बनाकर परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, बल्कि वह धर्म के द्वारा लाया जा सकता है। धर्म से मेरा मतलब कतिपय अन्धविश्वासपूर्ण आस्थाओं से नहीं है; आध्यात्मिक सत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति ही धर्म है।

जब स्वामीजी (विवेकानन्दजी) अमेरिका से भारत लौटे, तो दक्षिण भारत में किसी युवक ने उनसे पूछा, "अच्छा स्वामीजी, आप राजनीति में आकर देश को आजाद क्यों नहीं कर देते ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे लिए कल आजादी ला सकता हूँ, पर क्या तुम उसे सुरक्षित रख सकोगे ? वे मनुष्य कहाँ हैं? पहले मनुष्य तैयार करो। आजादी अपने आप आ जायगी।" और मनुष्य कौन तैयार कर सकता है? संसद के कानून नहीं, बल्कि धर्म, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

भारत तथा विश्व में आज हम जो यह घटना देखते हैं, वह कोई नयी नहीं है। यदि आप विश्व का इतिहास पढ़ें, और विशेषकर भारत का इतिहास देखें, तो आप पाएंगे कि ऐसी घटनाएँ युग युग में घटती रही हैं। हमने पतन के कई युग देखे। ऐसे हर पतन के युग के साथ हमने उन आध्यात्मिक दिग्गजों को भी देखा, जो हमारे बीच आये और युग के अनुरूप तथा आवश्यक

आध्यात्मिक सन्देश देकर समाज का पुनर्निर्माण कर गये। उनके उन सन्देशों को पूर्ण रूप से विकसित होने में शताब्दियाँ लग गयीं। स्वामीजो 'ईशदूत ईसा' में कहते हैं--

"सागर में एक ओर जहाँ उत्तुंग तरंगों का नर्तन होता है, दूसरी ओर एक अथाह खाई भी होती है। उच्च तरंग उठती है, और विलीन होती है। फिर एक प्रबलतर तरंग उठती है, मुहूर्त मात्र में उसका पतन होता है और पुनः उत्थान भी। इसी प्रकार तरंग पर तरंग सागर के वक्ष पर अग्रसर होती रहती है। विश्व के घटनाप्रवाह में भी निरन्तर इसी प्रकार का उत्थान और पतन होता रहता है, किन्तु हमारा ध्यान केवल उत्थान की ओर जाता है, हमें पतन का विस्मरण हो जाता है। पर विश्व की गति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं---दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। यही विश्व-प्रवाह की रीति है।

"हमारे मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जगत् में, सर्वत्र यही क्रमगति, यही उत्थान-पतन चल रहा है। उसी प्रकार विश्व-प्रवाह में उच्चतम कार्य, उदार आदर्श समय समय पर जन्म लेते हैं और जनसमूह की दृष्टि आकर्षित कर विलीन हो जाते हैं—मानो वे अतीत के भावों का परिपाक कर रहे हों, मानो प्राचीन आदर्शों का रोमन्थन करने को वे अदृश्य हो गये हों, जिससे ये भावसमूह, ये आदर्श, समाज में अपना योग्य स्थान पा लें, समाज के एक एक अंग के रुधिरबिन्दु में उनका प्रवेश हो जाय और पुनः एक प्रबल एवं उच्च-

तर उत्थान के लिए वे शक्तिसंचय कर लें। दुनिया के राष्ट्रों के इतिहास में भी यही गति दृग्गोचर होती है।"

हम 'गीता' में भी पढ़ते हैं--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥४/७८

--'हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है, तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ। भले लोगों की रक्षा एवं दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म की पुनः-प्रतिष्ठा के लिए मैं युग युग में अवतीर्ण होता हूँ।'

इस प्रकार हमारे बीच श्रीराम आये, श्रीकृष्ण और बुद्ध आये, श्रीगौरांग आये और अब श्रीरामकृष्ण आये हैं। वर्तमान युग की सड़न से रक्षा के लिए एक आध्यात्मिकतासम्पन्न नये व्यक्तित्व और नये सन्देश की आवश्यकता है--केवल भारत के लिए नहीं, अपितु सारे विश्व के लिए। वर्तमान युग में हमें श्रीरामकृष्ण में ऐसा व्यक्तित्व प्राप्त होता है। यदि हम वर्तमान परिस्थितियों एवं श्रीरामकृष्ण द्वारा छोड़े गये सन्देश का विश्लेषण करें, तो हम पाते हैं कि वे ही इस युग के पुरुष हैं जिनके लिए सारा संसार लम्बे समय से प्रतीक्षा करता रहा है। विशेषकर भारत के लिए उनका सन्देश अनिवार्य है, यदि हम राष्ट्र और समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं तथा एक महान् राष्ट्र के रूप में पुनः सामने आना

चाहते हैं। हमें दूसरे राष्ट्रों को भी अपने इस आध्यात्मिक सन्देश में सहभागी बनाना पड़ेगा, क्योंकि वे भी इसकी बाट जोह रहे हैं। हमने बीते दिनों में ऐसा किया था और अब इस युग में भी हमें एक बार पुनः ऐसा करना पड़ेगा। श्रीकृष्ण का सन्देश मथुरा से भूमध्यसागर के तट तक गया था और बुद्ध का सन्देश विश्व के समूचे पूर्वी भाग में छा गया था। श्रीरामकृष्ण के आधुनिक सन्देश का समस्त संसार में फैलना निश्चित है। विश्व के सभी भागों में उनके सन्देश को बड़ी तत्परता के साथ ग्रहण किया जा रहा है। उनका वह सन्देश क्या है? मैं उसे यथासम्भव संक्षेप में रखने का प्रयास करूँगा, क्योंकि मैंने वैसे भी आपका बहुत समय ले लिया है।

सन्देहवादी वैज्ञानिक जगत्, जो तर्क और प्रत्यक्ष प्रमाण पर निर्भर करता है, के लिए उन्होंने अपनी अपरोक्ष अनुभूति के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित कर दिया, जिसे वैज्ञानिक जगत् ने किसी प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में नकार दिया था। उन्होंने केवल ईश्वर के अस्तित्व को ही प्रमाणित नहीं किया, बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि सारे धर्म सत्य हैं तथा प्रत्यक्ष अनुभूति के मार्ग से ईश्वर-साक्षात्कार को ले जाते हैं। इस सन्देश का, विशेषकर भारत के सन्दर्भ में, एक बड़ा महत्त्व है, जहाँ बहुत से धर्म हैं, जो आपस में लड़ते-झगड़ते और खून-खराबी करते रहते हैं। केवल यह सन्देश ही विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को एक महान्

राष्ट्र के रूप में संघटित कर सकता है।

उन्होंने हम सामाजिक रूप से सैकड़ों दलों में विभक्त, परस्पर लड़ने-भिड़नेवाले और बहुधा रक्तपात करनेवाले लोगों को यह भी बताया कि इन सतही विभिन्नताओं के पीछे वही एक आत्मा है, और इस सत्य के प्रति अज्ञानता ही इन सब झगड़ों की सृष्टि करती है। उन्होंने उपदेश दिया कि जीव शिव ही है; और केवल इतना ही नहीं, बल्कि यह भी कि जो यह दृष्टिकोण लेकर जीव की सेवा करता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। आज उनके इस सन्देश का हमारे लिए बड़ा महत्त्व है। वह लौकिक और अलौकिक का, कर्म और उपासना का सारा अन्तर समाप्त कर देता है। वह इसमें हमारी सहायता करता है कि हम अपने राष्ट्रीय आदर्श-- ईश्वर-लाभ--से भी जुड़े रहें तथा साथ ही राष्ट्र के पुनर्निर्माण में जो भी कार्य आवश्यक हो वह करें, अन्यथा कर्म तो साधारणतया हमें बहिर्मुखी बना देता है और ईश्वर-साक्षात्कार में बाधक होता है।

अतएव मैं आपसे अपील करता हूँ कि आप इस महान् आदर्श को पकड़े रहें तथा पिछड़े लोगों को आर्थिक, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से आगे बढ़ाने के काम में लग जाएँ। स्वामीजी ने हमें बताया है कि जनसाधारण के प्रति हमारी उपेक्षा ही राष्ट्र के पतन का कारण रही है। शताब्दियों से हमने जनता की उपेक्षा की है और उसे दबाये रखने के लिए उस पर सब प्रकार का अत्या-

चार किया है। फलस्वरूप हमें देश की गुलामी मिली। कोई भी बाहर से सहज ही में भारत आ सकता था और यहाँ अपना राज्य या साम्राज्य स्थापित कर सकता था, क्योंकि जनता को देश के मामले में कोई रुचि नहीं थी। उसे इससे क्या अन्तर पड़ता था कि भारतवासी उस पर शासन करें या विदेशी, क्योंकि दोनों ही दशाओं में उसकी स्थिति समान थी--उसे तो बस गरीबी और पीड़ा का ही भोग करना था। परिणाम यह हुआ कि सारा राष्ट्र गुलामी की जंजीरों में बँध गया, क्योंकि उच्च वर्ण के लोग जनसाधारण की सहायता के बिना विदेशी आक्रमण को नहीं झेल सके। इसीलिए मैं पुनः स्वामीजी के उस सन्देश की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा, जिसमें उन्होंने हमें सावधान करते हुए कहा है--जन-साधारण की उपेक्षा मत करो। अतएव धनिक और उच्च वर्ग के लोगों को अपनी उच्चता की मिथ्या धारणा तथा अपने धन और आभिजात्य के झूठे घमण्ड से नीचे उतरकर जनसाधारण के लिए कार्य करना है--केवल उनकी अवस्था में सुधार लाने के लिए ही नहीं, बल्कि स्वय के जीवित बचे रहने के लिए भी। आज हम अपने राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक, औद्योगिक, और राजनीतिक क्षेत्रों में ऐसी हरकतें कर रहे हैं, जो अन्त में आकर उल्टे हमीं को चोट करेंगी और हमारा काल बनेंगी, क्योंकि एक दिन जनता का जागरण निश्चित है और उस उठा-पटक में केवल हमीं नष्ट नहीं होंगे, अपितु जो कुछ भी राष्ट्र

में अच्छा है, वह भी नष्ट हो जाएगा। अतएव, हमें अपने बचे रहने के लिए जनता की सहायता करनी है और उसे ऊपर उठाना है।

इसलिए, मित्रो, मैं आपमें से प्रत्येक से अपील करता हूँ कि आप व्यक्तिगत रूप से इस कार्य में सक्रिय रुचि लें और साथ ही ऐसे कार्य करने के लिए संस्थाएँ भी बनाएँ। मित्रो, आप सरकार से अधिक कोई आशा न रखिए, क्योंकि वह विशेष कुछ नहीं कर पाती है। सरकार ने जिन बड़ी बड़ी योजनाओं को स्वीकृत किया है तथा कानूनों को पारित, तथा वह भविष्य में जो भी स्वीकृत और पारित करेगी, उनका क्रियान्वयन तब तक नहीं हो सकता, जब तक हम उन्हें नहीं अपनाते हैं। अत: सरकार की ओर देखने और उसे दोष देने में कोई तथ्य नहीं हैं, क्योंकि वह भी तो आखिर इसी समाज का एक अंग है। आप स्वयं आगे बढ़िए, इस कार्य को अपनाइए, फिर जो भी शासन सत्तारूढ़ होगा, वह अपने आप ठीक हो जाएगा। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण की इस प्रकार व्याख्या की है, जिसे हम समझ सकें। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन की उच्च वोल्टता को कम वोल्टता में परिणत किया है, जो हमारे दैनन्दिन जीवन और गतिविधियों में हमारे लिए बहुत कुछ कर सकती है। अतएव स्वामीजी का अनुसरण करें। इससे हम अवश्य उस लक्ष्य को प्राप्त करेंगे, जो है——इस विषमांगी स्वार्थपर जनसाधारण को एक समांगी राष्ट्र के रूप में जोड़ना और उसे इतना महान् बनाना, जितना वह पहले कभी नहीं था।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

०

स्वामी तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में

(१)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य ने किया है।– स०)

स्थान–मोहनलाल शाह का मकान, चिल्कापेटा, अल्मोड़ा

दि० ७ जून, १९१५

स्वामी शिवानन्द– चाहे हजार समाधि और ध्यान क्यों न हो, पर ईश्वर के साथ प्रीति का सम्बन्ध अवश्य बना रहे। यह कभी न टूट पाये। ऐसा यदि न हो तो देह ही छूट जायगी।

स्वामी तुरीयानन्द– 'देहबुद्धया दासोऽहम्, जीवबुद्धया अंशोऽहम्, आत्मबुद्धया सोऽहम्'[1] यह मानना ही होगा। जो मनुष्य एक काँटा चुभ जाने पर व्याकुल हो दूसरे की मदद माँगने लगता है, वह भला भगवान् को नहीं मानेगा!

'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत'[2] का पाठ चल रहा है।

स्वामी तुरीयानन्द– अहा! दक्षिणेश्वर मानो कैलाश ही था। सुबह से लेकर दोपहर के एक बजे तक ठाकुर[3]

---

१. 'देहबोध के रहते मैं भगवान् का दास हूँ, जीवबोध होने पर उनका अंश और आत्मबोध हो जाने पर मैं वही हूँ।'

२. इस बँगला ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के नाम से तीन भागों में प्रसिद्ध है।

३. श्रीरामकृष्णदेव

के निकट अविरत भगवत्प्रसंग चलता और लोग बैठे सुनते रहते। Atmosphere (वातावरण) में ईश्वरीय प्रसंग के सिवा दूसरी बात ही न होती। जो कुछ हँसी-मजाक होते, वे भी उसी विषय को लेकर, और उनके माध्यम से भी ठाकुर को समाधि लग जाती। केवल भोजन के पश्चात् वे कुछ समय के लिए थोड़ा विश्राम करते। इसके अलावा वे सब समय भगवत्प्रसंग में ही मग्न रहते। सन्ध्या के समय कालीमन्दिर में जाकर माता के दर्शन करते और पंखा झलते; फिर भावमग्न हो गाढ़ा नशा चढ़ जाने की तरह लड़खड़ाते हुए कमरे में लौट आते। जो लोग साधन-भजन किया करते, उनसे वे पूछते, 'क्यों रे, क्या तुझ सुबह-शाम कुछ नशा जैसे चढ़ता है?' उनकी रात की नींद बहुत ही कम थी। थोड़ासा सोकर ही उठ जाते और जो उनके कमरे में सोये होते, उन्हें भी 'अरे, इतनी क्या नींद लेते हो रे! उठो, ध्यान करो!' कहते हुए उठा देते। फिर कुछ देर लेटे रहते। बाद में भोर होते ही उठ जाते और मधुर कण्ठ से भगवान् का नामगुणगान करने लगते। तब अन्य सब लोग भी उठकर जप-ध्यान करने लग जाते। बीच बीच में ठाकुर उनमें से किसी का झुकी हुई पीठ को सीधी कर देते, या किसी की गरदन को कुछ ऊची कर उसे ठीक से बिठा देते।

दि० १० जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द—आत्मा का साक्षात्कार कर लो।

उसके लिए You have to ascend the highest peak of renunciation (तुम्हें त्याग के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ना होगा)।

दि० ११ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द– चित्त को सभी वस्तुओं से उपरत कर लेना क्या आसान बात है। यह वीरों का काम है। बाहर की वस्तुएँ तो सतत मन के भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न कर रही हैं। वे तो तुम्हें जबरदस्ती नीचे गिराना चाहती हैं। मन के भीतर एक के बाद एक कितने ही स्तर हैं! केवल बाहर से आँख कान बन्द करने से क्या होगा?

दि० १३ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द– अमुक 'राजयोग' को जल्दी जल्दी पढ़कर समाप्त कर डालना चाहता है। हमने तो इसके लिए अपने प्राण तक निकालकर रख दिये थे। बचपन से तो यही करते आये हैं। फिर भी चित्तशुद्धि कहाँ हुई? राग द्वेष कहाँ गये? 'तव दासः – दासस्य दासः कुरु मां प्रभो!'[४]

"क्या अभिमान अच्छा है? बहुत बुरी चीज है वह। 'अभिमानं सुरायानम्।' उससे ज्ञान नष्ट हो जाता है। ठाकुर कहते थे, नीची जगह पानी जमता है, वैसे ही सब सद्गुण 'सुनीच'[५] व्यक्ति में ही प्रकट होते हैं।

४. 'हे 'प्रभो, मुझे अपना दास—दास का भी दास बना लो।'
५. विनम्र

'शुष्कं काष्ठं मूर्खवत् विद्यते, न तु नमते।'[६] अहंकार गरदन को ऊँची किये रखता है। steel (फौलाद) की ही तरह, जो elastic (नमनीय) हो पर टूटे नहीं, वही सच्ची strength (शक्ति) है। इसी प्रकार जो compromising (समझौता करके चलनेवाला) है, कई लोगों के साथ मिल-जुलकर चल सकता है, वही strong (शक्तिशाली) है।

"तुम यदि ईश्वर के बन जाओ, तो फिर भय किस बात का रह जाय? स्वामीजी कहते थे, 'जब तुमने दुनिया में जन्म लिया है, तो एक निशानी छोड़ जाओ।' वराहनगर मठ में उन्होंने कहा था, 'देखना, हम लोगों का नाम History (इतिहास) के पन्नों पर चढ़ेगा!' इस पर योगीन स्वामी आदि मजाक उड़ाने लगे। तब स्वामीजी बोले, 'जाओ मूर्खो, बाद में देख लेना। वेदान्त मैं सबको convince करा (समझा) दे सकता हूँ। तुम न सुनो तो मैं चण्डालों की बस्ती में जाकर सुनाऊँगा।'

"प्रचार करना हो तो ठोस कुछ देना पड़ता है। यह तो किसी क्लास को पढ़ाना या कोई किताब पढ़ाना नहीं है कि सिर्फ पढ़ाते चले जायँ--प्रत्यक्ष कुछ देना न पड़े। इसीलिए पहले कुछ संग्रह करना होगा, बाद में प्रचार। 'मैंने रिपुओं का कुछ दमन कर लिया है' ऐसा

६. 'सूखी लकड़ी मूर्खों की तरह होती है, (वह टूट जाती है, पर) नमती नहीं।'

७. स्वामी विवेकानन्द

कहते हुए अहंकार नहीं करना चाहिए। वैसा करने पर वे रिपु उसी समय जाग उठेंगे। यही कहना चाहिए कि हे भगवन्, इन सब के हाथ से मेरी रक्षा करो।

" 'ध्यानविघ्नानि'[८] चार हैं--लय, विक्षेप, काषाय तथा रसास्वाद। 'लय' में मन enters into Tamas. (तमोगुण में निमग्न हो जाता है)---सो जाता है, consciousness (बाह्यज्ञान) नही रह जाता। अधिकांश लोग इसी में अटक जाते हैं। 'विक्षेप' में मन नाना विषयों में बिखर जाता है। 'काषाय' में ध्यान करना कटु प्रतीत होने लगता है, अच्छा नहीं लगता। उस समय भी persist (जबरदस्ती प्रयत्न) करना चाहिए, बार बार मन को ध्यान में लगाना चाहिए। 'रसास्वाद' में भगवान् के किसी एक रूप के चिन्तन में ही आनन्द का अनुभव होता है, मन उसके ऊपर नहीं उठ पाता। शम का अर्थ है equilibrium, balance of mind (सन्तुलन, मन की साम्यावस्था)। 'शमं प्राप्य न चालयेत्।'[९] जब तक शरीर रहता है, तब तक रिपु भी रहते हैं। परन्तु भगवान् की कृपा से वे दबे रहते हैं, सर नही उठा पाते।"

दि० १५ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द---केवल कर्म करने से क्या होगा? भाव न होने पर वह तो सिर्फ मजदूरी है। Drudgery

---

८ 'ध्यान के विघ्न'।

९ 'शम प्राप्त कर मन को विचलित न होने दे।'

(कठोर श्रम) में 'स्नेह' का अभाव होता है।..उपनिषद् में है--स्तब्ध अनुस्यूत--बिलकुल गुमसुम बना हुआ है।

दि० १६ जून, १९१५

'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत' पढ़ा जा रहा था। एक स्थान पर ठाकुर कहते हैं--"कर्म के द्वारा वे प्राप्त होते हैं, सो बात नहीं। परन्तु कर्म करते करते चित्त शुद्ध होता है, उनके लिए व्याकुलता उत्पन्न होती है। उस व्याकुलता के आने पर उनकी कृपा होती है। तब उनके दर्शन होते हैं।"

स्वामी तुरीयानन्द--केवल थोड़ा-सा पढ़ लिया, थोड़ा-सा ध्यान कर लिया, इससे क्या वे मिल सकते हैं ? उनके लिए व्याकुल होना चाहिए। प्राण 'अब गये तब गये' होने चाहिए। ठाकुर ने हम लोगो से कहा था, 'देखो, मुझमें व्याकुलता थी इसलिए माँ ने सब कुछ जुटा दिया। यह काली मन्दिर और मथुरबाबू जुट गये। यहाँ (हृदय में) व्याकुलता का रहना--यही असल बात है। वह हो तो सब कुछ जुट जाता है।' भक्ति के बिना दूसरा उपाय कहाँ ?

स्वामी शिवानन्द--और क्या ! प्रभु के चरणकमलों का ध्यान करने बैठो तो सब इन्द्रियाँ आप ही अन्तर्मुखी हो जाती हैं, मन उन्हीं में जाकर तन्मय हो जाता है। रामप्रसाद[10] ने कहा है, भक्ति ही सब आध्यात्मिक उपलब्धियों के मूल में है। रामप्रसाद ठाकुर के Ideal

---

१०. बंगदेश के सुप्रसिद्ध साधक कवि।

(आदर्श) थे। ठाकुर ने कहा था, 'माँ, तूने रामप्रसाद को दर्शन दिये, मुझे नहीं देगी?' अब की ठाकुर की शिक्षा ही है ज्ञानमिश्रा भक्ति।

दि० २० जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द--(स्वामी शिवानन्द के प्रति)-'जखन हरि बोलते धारा बइबे, एमन दिन कबे बा हबे!'[११] क्या आपको रोना आता है? भला बताइए तो कितनी उच्च अवस्था की यह बात है कि हरिनाम लेते ही अश्रु बहने लगें!

स्वामी शिवानन्द--पहले-पहल जब मैं ठाकुर के पास जाता था, तब मुझे खूब रोना आता था। एक दिन रात को बकुलतला के पास गंगा के पुश्ते पर जाकर खूब रोया। इधर ठाकुर पूछने लगे, 'तारक कहाँ गया?" फिर बाद में जब उनके पास गया, तब वे बोले, 'बैठ। देख, भगवान् के पास रोने से उन्हें बड़ी दया आती है। और जन्म-जन्मान्तर की मन की ग्लानि अनुराग-अश्रु में धुल जाती है। उनके निकट रोना बहुत अच्छा है।'

"और एक दिन मैं पंचवटी में बैठा ध्यान कर रहा था। ध्यान खूब जम गया था। इतने में ठाकुर झाऊ-तल्ले की ओर से आये। ज्योंही उन्होंने आकर मेरी ओर ताका, त्योंही मुझे जोर से रोना आ गया। ठाकुर चुपचाप खड़े रहे, पर मेरी छाती के अन्दर सुरसुराहट

११. 'जब 'हरि' कहते ही नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगेगी, ऐसा सुदिन भला कब आएगा?"

होने लगी और मुझ ऐसी कँपकँपी छूटने लगी कि रुकती ही न थी। ठाकुर ने कहा, 'यह ऐसा वैसा रोना नहीं है, यह एक प्रकार भावावेश है।' थोड़ी देर बाद उनके कमरे में जाकर बैठा। उन्होंने कुछ खाने को दिया। कुण्डलिनी-जागरण वगैरह उनके हाथ ही में था; बिना छुए केवल पास खड़े रहकर ही वे कुण्डलिनी को जगा देते थे!"

दि. २१ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द– स्वामीजी ने जहाँ कहीं 'मैं' कहा है, उसी परमात्मा के साथ एक होकर कहा है।

"मनुष्य स्वयं सुखी होने के लिए कितने प्रयत्न करता है। परन्तु ईश्वर के कृपा किये बिना क्या कुछ हो सकता है ? एक प्रकार का freedom (स्वतंत्रता) है-- ईश्वर के साथ एक बने रहना। दूसरा प्रकार है– उनके शरणागत बने रहना। उनसे अलग रहकर freedom of will (इच्छास्वातन्त्र्य) कभी सम्भव नहीं।

'मैं 'अमुक' हूँ--ऐसा विश्वास रखना स्वयं को डुबाने का एक मार्ग है। 'मैं सब कुछ जानता हूँ' यह भाव बहुत बुरा है। आत्मविश्वास, आत्मप्रत्यय का अर्थ है उस परमात्मा पर विश्वास। 'मैं जैसा हूं वैसा ही रहूँगा। मैंने जो समझ रखा है, मेरी जो धारणा है, उसे मैं कभी न बदलूँगा–चाहे मुझे कोई काट डाले या मार ही डाले।'--स्वयं को इस प्रकार important (महत्त्वपूर्ण) समझना बहुत बुरा है।

"बात का जवाब ठीक ठीक देना। जहाँ 'हाँ' कहना हो, वहाँ 'हाँ' ही कहना। एक बात को कहने के लिए तीन-चार बातें क्यों कहोगे? साधु में सरलता होनी चाहिए। साधु को बालक की तरह बन जाना चाहिए।"

दि. २२ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द– प्रेम करने की शक्ति चाहिए। हम लोग बचपन में कितना प्रेम करते थे--पागलों की तरह! भाइयों पर मेरा इतना प्रेम था कि संन्यासी हो जाने पर छोड़ देना होगा सोचकर मैं रोया करता। बाद में ठाकुर ने सब स्नेह-पाश पटापट काट दिये। ठाकुर ने श– से पूछा था, 'तू किसे प्यार करता है?' वह बोला, 'महाराज, किसी को प्यार नहीं करता।' ठाकुर ने चिढ़कर कहा, 'धत्! शुष्क कहीं का!'

"ईश्वर हैं या नहीं यह सन्देह मुझे कभी नहीं हुआ।"

दि. २४ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द– मनुष्य के बारे में मनुष्य-बुद्धि के रहते कभी मुक्ति नहीं होगी--ईश्वर-बुद्धि होनी चाहिए। ईश्वर-बुद्धि न रहे, तो किसी महान् उन्नत, ज्ञान, वैराग्य आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न, विभूतिमान् पुरुष की उपासना करने पर भी मुक्ति नहीं मिलेगी। उसके द्वारा भले ही तुम्हारे भीतर वे ऐश्वर्य--ज्ञान, वैराग्य आदि सद्गुण--आ जायं; पर बस इतना ही। परन्तु जो स्वयं

ईश्वरावतार हैं, उनकी यदि जाने, अनजाने या भूलकर भी उपासना की जाय, तो अन्त में वे स्वयं ही ईश्वर-बोध करा देते हैं। जैसे कृष्णलीला में शिशुपाल आदि की 'द्विषन् हृशीकेशमपि'[12] ऊर्ध्वगति हुई थी। जार बुद्धि से श्रीकृष्ण को approach (ग्रहण) करने के बावजूद अन्त में गोपियों की उनमें ईश्वरबुद्धि हुई थी। किसी गोपी को उसके पति ने घर में बन्द कर रखा था। तब उसे जो तीव्र विरह-दुख हुआ उससे उसके पाप नष्ट हो गये और श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उसे जो उत्कट ध्यानानन्द हुआ, उसके द्वारा उसके द्वारा उसके पुण्य भी नष्ट हो गये और इस प्रकार उसने मुक्ति प्राप्त कर ली।

प्रश्न– फिर यह जो कहा जाता है कि भक्ति की अधिकता से ऐश्वर्य-ज्ञान चला जाता है, उसका अर्थ क्या है?

स्वामी तुरीयानन्द– ईश्वर-दर्शन के पश्चात् जो और अधिक निकटता का अनुभव करना चाहते हैं, वे प्रयत्नपूर्वक ऐश्वर्य-ज्ञान का वर्जन करते हैं। गोपियाँ सामान्य मानव नहीं थी—उनके 'भागवती तनु' था।...

"वीर्यधारण ही ईश्वर-साक्षात्कार का प्रधान उपाय है। अट्ठाईस वर्ष की आयु में वीर्य परिपक्व होता है। जो वीर्य धारण कर सकता है, उसे ज्ञान, भक्ति सब प्राप्त होते हैं। काम का एक नाम है मनसि-ज। मन ही मन में काम का जन्म होता है। जो वीर होता है, वही इन्द्रियों

१२. 'हृशीकेश से द्वेष करते हुए भी'।

के हाथ से छुटकारा पाकर अतीन्द्रिय राज्य में जा पाता है।

"Stubbornness (हठीलापन) को यदि तुम strength (शक्ति) कहो, तो मैं तुमसे सहमत नहीं। Stubbornness (हठीलापन) दुर्बलता का एक आवरण है। स्वयं दुर्बल है इसीलिए as a covering (आवरण के रूप में) बाहर एक stubborn (हठीला) भाव बनाये रखा है। Real strength (यथार्थ शक्ति) हो तो वह सब ओर जायगा, सब ओर झुकेगा, पर फिर से अपनी strength (शक्ति) को regain (पुनः प्राप्त) कर लेगा।"

दि० २६ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द-- बाबूराम महाराज ने लिखा है, 'हम लोग अनुमान में नहीं, वर्तमान में हैं।' . . . किसलिए सब छोड़ा है, इसका बीच बीच में स्मरण करना होगा तथा स्वयं को test करके (परखकर) देखना होगा कि हम ठीक ठीक उन्नति के पथ पर चल रहे हैं या नहीं।

दि० २७ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द-- उनकी (ठाकुर की) दीक्षा सामान्य तो थी नहीं, वे तो एकदम (कुण्डलिनी) जगा देते थे। वे कोई मन्त्र देते और एकदम साथ ही साथ छाती के भीतर मानो सरसर करती हुई लहरें उठने लगतीं। एक बार मुझसे उन्होंने कहा, 'तू अभिषिक्त होगा?' मैंने कहा, 'मैं नहीं जानता।' वे बोले, 'तब रहने दे।' फिर एक दिन जब मैं कालीमन्दिर से प्रणाम करके

लौट रहा था, उस समय उन्होंने मेरी ओर निर्देश करते हुए एक व्यक्ति से कहा, इसका उच्च शक्ति का वह घर है, जहाँ से नाम-रूप आ रहे हैं।' मुझमें मुमुक्षुत्व का तीव्र वेग आया था। 'इसी जीवन में सब पूरा कर लेना होगा' यह भाव मुझमें जन्म से ही प्रबल था। पर ठाकुर ने मेरी इच्छा पूरी कर दी। अब शरीर रहे या छूट जाय।

दि० २८ जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द-- हमने इन्हीं आँखों से देखा है, इन्हीं कानों से सुना है। ठाकुर का इतना प्रोत्साहन होने के बावजूद स्वामीजी की उद्दीपना को देखकर हम सोचते, शायद इस जीवन में कुछ न हो पाया। जीवन शायद व्यर्थ ही गया। यानी जो सोचा था, वह शायद नहीं हो पायगा। परन्तु बाद में ठाकुर ने सुअवसर ला दिया।

"स्वामीजी ने मुझे उन दिनों में[१३] एक बार लिखा था, 'भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे आशंकया काकवत्'[१४]-- इस तरह से दिन बीत रहे हैं।'

" 'दूसरा न कोई', वे ही सर्वस्व हैं-यह बोध जब होगा, सम्पूर्ण रूप से जब निरालम्ब हो जाओगे, तभी ठीक होगा। इस समय तुम्हारा इस पर, उस पर, धन, जन,

---

१३. जिस समय स्वामीजी परिव्राजक अवस्था में तपस्यामग्न थे।

१४. 'कौए की तरह मानरहित होकर दूसरों के यहाँ शंका के साथ भोजन करता हूँ।'-वैराग्यशतक

विद्या पर भरोसा है। बड़े बड़े पण्डितों का भी देखा गया है–स्क्रू कुछ ढीला हो जाते ही पागल हो जाते हैं। 'मेरे धन-जन हैं, friend (मित्र) हैं' इस भाव के रहते ईश्वर पर निर्भरता नहीं आती। 'अकिञ्चनानां नृप तद्धनं विदुः।'[१५] जिस समय तुम्हारे और उनके बीच कुछ भी नहीं रह जायगा, तभी उनका लाभ होगा। गोपियों के सब पाश उन्होंने काट दिये थे। अन्त में उनके केवल लज्जा भर रह गयी थी, वह भी उन्होंने हर ली। जब वे देखते हैं कि कोई भक्त उनके लिए किसी विशिष्ट वस्तु को छोड़ नहीं पा रहा है, तब वे स्वयं ही वह वस्तु छीन लेते हैं।

" 'तुमि सब केड़े नाओ आमाय काँदाये।
जतो किछु निभृत हृदये रेखेछि लुकाये॥'[१६]

" 'यदि भवे पार हबे, छाड़ो विषय कामना।'[१७]

"ठाकुर जी कहा करते थे– 'अद्वैत ज्ञान आँचल में बाँधकर जो इच्छा हो करो।' अर्थात् ईश्वर को अपनी अन्तरात्मा जानते हुए–आँखों की आँख, प्राणों के प्राण जानते हुए– उन पर भक्ति करो। इसके विपरीत जिस भक्ति में केवल 'हे प्रभो, मुझे यह दो, वह दो' यह भाव है, वह सकाम है। तनिक भी कामना-वासना के रहते पराभक्ति प्राप्त नहीं होती।"...

---

१५. 'हे राजन, उन्हें निर्धन का धन जानो।'

१६. 'तुम मुझे रुलाकर मुझसे वह सब कुछ छीन लो, जो मैंने अपने हृदय में गुप्त रूप से छुपाये रखा है।'

१७. 'यदि भवसागर पार होना हो तो विषयवासना छोड़ दो।'

स्वामीजी का 'My Master'[१८] पढ़ा जा रहा था। उसमें एक स्थान पर पढ़ा गया– 'Do you think then that a man firmly persuaded that there is a Reality behind all these appearances,... One who is infinite bliss, a bliss compared with which these pleasures of the senses are Simply playthings, can rest contented without struggling to attain it ?'
(–'क्या तुम सोच सकते हो कि जिस मनुष्य की यह दृढ़ धारणा हो गयी कि इस आभास के पीछे एक अनन्त सुखस्वरूप परमेश्वर है, जिसके सामने इन्द्रियों का सुख कुछ भी नहीं है, तो उस परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न किये बिना वह मनुष्य चुपचाप बैठ सकता है ?')

इस सन्दर्भ में स्वामी तुरीयानन्दजी कहने लगे-- "देखो, 'ईश्वर' यह हमारे लिए केवल एक कहने भर का शब्द है। थोड़ी देर ध्यान कर लिया, थोड़ा-सा जप कर लिया--यह तो किसी तरह दिन गुजारना है। ईश्वर के लिए छाती फटने लगे, एक तीव्र पीड़ा अनुभव होने लगे, प्राण छटपटाने लगें--तब न ! तुलसीदास ने कहा है, 'ऐसा गरीब का दाम, कब होगा मेरा राम ?'

"कामी व्यक्ति किसी स्त्री को पाने के लिए कितनी दौड़-धूप करता है ! उसके पीछे-पीछे कैसा चलता है! बिल्वमंगल साँप को पकड़कर दीवार पर चढ़ने लगा ! ...ईश्वर के हाथ में सब कुछ सौंपे बिना कुछ नहीं

१८. इसका हिन्दी अनुवाद 'मेरे गुरुदेव' नाम से प्रसिद्ध है।

बनेगा। इधर तो उन्हें अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कहते हो, फिर उनके हाथों तले जाते हुए भय कैसा ? 'राम' भी कहोगे और वस्त्र भी सम्हालोगे ? जब तक न द्रौपदी सब कुछ छोड़कर एकमात्र हरि का ही स्मरण करने लगी, तब तक उसे भय हो रहा था कि वस्त्र शायद अब न बचे। पर उसके बाद वस्त्र इतना बढ़ने लगा, जिसका अन्त ही न था !

"क्या तुमने सोच रखा है कि 'कपट भक्ति करके श्यामा माँ को पा लोगे ! यह कोई बच्चे के हाथ का लड्डू नहीं है कि उसे भुलावा देकर छीन खाओगे !' ईश्वर को क्या तुम ठग सकोगे ! वे सब कुछ देख रहे हैं। 'तुम कर्ता हो, मैं अकर्ता; तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र'--यही भाव the alpha and omega of religion (धर्मजीवन का आदि और अन्त) है। 'I thy God are a jealous God' --'मैं तेरा ईश्वर ईर्षालु ईश्वर हूँ।' यदि तुम किसी दूसरी वस्तु को चाहो, ईश्वर के लिए सब कुछ न छोड़ कुछ रख लो, तो उन्हें नहीं पा सकोगे।"

दि. ३० जून, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द--ईश्वर को कौन चाहता है ? कोई नहीं ! अपने दुःख का निवारण कर ले, खूब मौज लूटे--यही सब चाहते हैं। ईश्वर के प्रति अहैतुक भक्ति होना बड़ा दुःसाध्य है।... एक आदमी खूब 'निर्जन चाहिए' 'निर्जन चाहिए' किया करता था; एक दिन वह पूछता है, 'मैं और एक शादी करूँ क्या ?'

०

हे विवेकानन्द स्वामी

ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य

(राग–अड़ाना : ताल–तीव्रा)

हे विवेकानन्द स्वामी
सकल जग के महाराज ।
अवतरे निजधाम तज तुम
साधने जनमुक्तिकाज ॥ ध्रु० ॥
अमित तेज, अपार विक्रम,
हर रहे तुम घोर भवभ्रम ।
भोगतृष्णा को मिटाने
धरा है संन्यासि-साज ॥ १ ॥
दान कर संजीवनामृत
सुप्त भारत किया जागृत ।
आसमुद्र-हिमाद्रि में फिर
छा गया वेदान्त-राज ॥ २ ॥
'उठो जागो, नींद तज अब,
अमृत की सन्तान तुम सब'
सिंहसम तव गर्जना से
जग सकल चैतन्य आज ॥ ३ ॥

विभीषण-शरणागति (१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर विभीषण-शरणागति पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी का प्रथम प्रवचन है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।—स०)

भगवान् श्री राघवेन्द्र की अनुकम्पा से आज इस पवित्र प्रांगण में हम लोग एकत्रित हुए हैं, जिससे कि उनके भक्तों के गुणों का कुछ वर्णन कर सकें। परम श्रद्धेय स्वामी आत्मानन्दजी महाराज ने मेरे प्रति जो शब्द कहे हैं, वे उनके स्नेह के ही परिचायक हैं। यहाँ, आश्रम के पावन प्रांगण में बोलकर मुझे विशेष प्रकार के सुख की अनुभूति होती है और इसलिए मुझे यहाँ आने में बहुत अधिक आनन्द आता है। अभी कलकत्ते में कुछ लोगों ने मुझसे शिकायत के स्वर में कहा कि यह कौन सा न्याय है कि आप कलकत्ते के लिए भी वही एक सप्ताह का समय देते हैं, जो रायपुर के लिए देते हैं। कहाँ रायपुर और कहाँ कलकत्ता! जनसंख्या में कितना बड़ा अन्तर है। कम से कम जनसंख्या की दृष्टि से तो कलकत्ता को दिये जानेवाले अल्प समय पर पुनर्विचार

करना चाहिए ! तो मैंने उत्तर में कहा कि भई, दोनों नगरों में संख्या का अन्तर है सही, पर आप एक बुनियादी अन्तर को अनदेखा कर रहे हैं। बात यह है कि आप लोग कलकत्ते में मनोरंजन की दृष्टि से कथा सुनते हैं, जबकि रायपुर में साधना की दृष्टि से कथा सुनी जाती है; रायपुर का वातावरण वस्तुतः साधना का है और वह संकल्प की पवित्र भूमि है। अतएव संख्या की दृष्टि से तुलना नहीं की जानी चाहिए। अस्तु।

स्वामीजी महाराज ने विषय का संकेत कर ही दिया है। आज मैं कुछ अस्वस्थ हूँ, अतः संक्षेप में कुछ बातें भूमिका के रूप में आपके सामने रखी जाएँगी। आप लोगों ने पिछले वर्षों में जिन लोगों का चरित्र सुना है, विभीषणजी का चरित्र उनसे भिन्न है। श्री भरत, श्री लक्ष्मण या श्री हनुमान जी को देखकर जिस ऊँचाई का भान होता है, वह मनुष्य के मन में श्रद्धा तो उत्पन्न करती है, पर यह भी मन में उठता है कि क्या हम उतनी ऊँचाई तक उठ सकते हैं ? इधर विभीषणजी का चरित्र भले ही निम्न दिखायी देता हो, पर वह हम सबके जीवन के अत्यधिक निकट है। विभीषण के व्यक्तित्व में हमें अपनी बहुतसी समस्याओं की समानता दिखायी देती है। ऐसा लगता है कि वे हमारे अत्यन्त निकट हैं। हमारी दुर्बलताएँ हमारी समस्याएँ, हमारी प्रवंचनाएँ--सब उनके जीवन में विद्यमान हैं। इसलिए यह प्रसंग विशेष रूप से साधनामूलक है। और यहाँ पर,

आश्रम की इस भूमि का वातावरण भी वही है।

हम विभीषण के चरित्र पर दो दृष्टियों से विचार करेंगे। एक दृष्टि तो वह है, जहाँ 'रामचरितमानस' में विभीषण के तीन जन्मों का वर्णन किया गया है और दूसरी दृष्टि वह है, जहाँ 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी ने विभीषण को जीव के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया है। गोस्वामीजी कहते हैं--'जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण' (५८।६)। 'रामचरितमानस' में बालकाण्ड के प्रारम्भ में जहाँ पर रावण के तीन जन्मों का उल्लेख है, वहीं पर हम विभीषण के भी जन्मों का उल्लेख पाते हैं। विशेष करके वहाँ पर प्रतापभानु का चरित्र बड़े विस्तृत रूप मे प्रस्तुत किया गया है। रावण पूर्व जन्म में प्रतापभानु है, कुम्भकर्ण अरिमर्दन है और प्रतापभानु का धर्मरुचि नामक जो मंत्री था, वह विभीषण के रूप में जन्म लेता है। वैसे तो प्रतापभानु और अरिमर्दन ये दोनों नाम सार्थक और सांकेतिक हैं, पर धर्मरुचि नाम की अपनी एक अलग महत्ता और विशेषता है। कहा गया है कि कैकय देश में सत्यकेतु नाम का राजा राज्य करता था। वह धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता था। उसके दो पुत्र हुए। एक का नाम था प्रतापभानु और दूसरे का अरिमर्दन। प्रतापभानु का अर्थ है--'जिसका प्रताप सूर्य की तरह है, और अरिमर्दन का अर्थ है--जो शत्रुओं का विनाश करता है। आध्यात्मिक भाषा में इसे हम यों कह सकते हैं कि प्रतापभानु ज्ञान है और अरि-

मर्दन सत्कर्म। कारण, सूर्य की तुलना बहुधा ज्ञान से की जाती है। अब ज्ञान के भी दो प्रकार हैं। एक है सिद्ध-ज्ञान और दूसरा, साधन-ज्ञान। साधन-ज्ञान के साथ कुछ समस्याएँ जुड़ी रहती हैं। जैसे, सूर्य प्रकाश तो देता है, उसमें अन्धकार दूर करने की क्षमता तो है, पर उसके साथ कुछ समस्याएँ भी जुड़ी होती हैं। कभी वह मेघों से आच्छादित हो जाता है और दिखायी नहीं देता, तो कभी प्रकाश के साथ इतना ताप देता है कि सबको झुलसा देता है। गोस्वामीजी सूर्य के इन रूपों की तुलना साधकों से करते हैं। जिसके जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय हुआ है, उसे हम सिद्ध-ज्ञान न कह साधन-ज्ञान कह सकते हैं। गोस्वामीजी किष्किन्धाकाण्ड के प्रारम्भ में जीव के रूप में सुग्रीव का वर्णन करते हैं, फिर 'विनयपत्रिका' में सुग्रीव को ज्ञान के प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हैं, कहते हैं--'**ज्ञान-सुग्रीव**' (५८।८)। यह तो आप जानते ही होंगे कि सुग्रीव का जन्म सूर्य के अंश से हुआ और भगवान् राम का जन्म भी सूर्यवंश में हुआ। सूर्य के ये दो प्रतीक हैं--एक सुग्रीव और दूसरे भगवान् श्री राम। पहला यदि साधन-ज्ञान है, तो दूसरा सिद्ध-ज्ञान। गोस्वामीजी सुग्रीव को ज्ञान का प्रतीक मानने के साथ साथ किष्किन्धाकाण्ड में कहते हैं--

> **कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।**
> **बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥** ४/१५(ख)

--'कभी (बादलों के कारण) दिन में घोर अन्ध-

कार छा जाता है और कभी सूर्य प्रकट हो जाता है, जैसे कुसंग पाकर ज्ञान नष्ट हो जाता है और सुसंग पाकर उत्पन्न हो जाता है।' तात्पर्य यह है कि सूर्य में दिव्य प्रकाश तो है और वह अन्धकार को भी दूर कर देता है, पर जब बादल आ जाते हैं, तब उसका प्रकाश नहीं दिखायी देता। यह सूय के प्रकाश के साथ एक समस्या है। जब बादल फट जाते हैं, तब उसका प्रकाश फिर से दिखायी देने लगता है। उसी प्रकार कुछ लोगों का ज्ञान अज्ञान-अन्धकार को दूर करने में समर्थ तो होता है, पर जब कुसंग के प्रभाव से वासना के बादल अन्त:करण में छा जाते हैं, तो उनके ज्ञान का प्रकाश ढक जाता है। यही संकेत सुग्रीव के जीवन में प्राप्त होता है। प्रतापभानु भी ऐसे साधन-ज्ञान का प्रतीक है।

सूर्य के साथ दूसरी समस्या यह है कि उसका रूप बदलता दिखायी देता है। प्रात:काल, मध्याह्न और सायंकाल सूर्य हमें एक जैसा नहीं दिखायी देता, उसके प्रकाश में हमें पार्थक्य की अनुभूति होती है। साधन-ज्ञान की भी यही समस्या है--उसका रूप भी एक-सा नहीं रहता, उसमें घट-बढ़ होती रहती है।

सूर्य के साथ तीसरी समस्या यह है कि वह हमें प्रकाश के साथ ताप भी देता है। उसी प्रकार ज्ञान में जब निरभिमानिता रहती है, तब तो वह प्रकाश देता है, पर जब उसमें अहकार-अभिमान का उदय होता है, तो वह प्रकाश से अधिक ताप देने लगता है। साधन-

ज्ञान की तुलना ज्येष्ठ मास के सूर्य से की जा सकती है और सिद्ध-ज्ञान की तुलना कार्तिक, अगहन या शीत ऋतु के सूर्य से। कुछ वर्ष पहले ज्योतिष शास्त्र की एक बात को लेकर मनोरंजक विवाद छिड़ा था। ज्योतिष शास्त्र की सामान्यत: ऐसी मान्यता है कि यदि किसी की जन्म-कुण्डली में ग्रह उच्च के हों, तो वह उन्नति करता है और यदि निम्न के हों, तो उसकी अवनति होती है। इस पर एक विद्वान् ने प्रश्न उठाया कि अगर किसी की कुण्डली में सूर्य उच्च का हो, तो वह व्यक्ति अच्छा होगा अथवा तब, जब सूर्य नीच का हो ? इस प्रश्न का सुन्दर उत्तर महाराष्ट्र के एक ज्योतिषी ने दिया था। उसने कहा था कि उच्च के सूर्य वाला व्यक्ति कभी लोकप्रिय नहीं होगा। इसके विपरीत जो नीच का सूर्य वाला व्यक्ति होगा, वह अत्यन्त लोकप्रिय होगा। उसने दृष्टान्त सहित इस बात को यों समझाया कि ज्योतिष शास्त्र में जो सूर्य उच्च का होता है, वह ज्येष्ठ मास का होता है। ज्येष्ठ मास में सूर्य में जितना प्रकाश होता है, उतना और किसी मास में नहीं। और नीच का सूर्य बहुधा कार्तिक मास का होता है। ज्येष्ठ मास के सूर्य में इतनी प्रखरता होती है कि लोग उस ओर देखना भी पसन्द नहीं करते घर के दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द कर लेते हैं। दूसरी ओर, कार्तिक मास का सूर्य भले ही उतना प्रकाशवान् न हो, पर उससे लोगो के मन में प्रसन्नता होती है, उससे उष्मा प्राप्त

होती है। इसी प्रकार जो नीच का सूर्य वाला व्यक्ति होगा, वह अधिक लोकप्रिय होगा, भले ही उसमें प्रकाश की मात्रा उतनी तीव्र न हो। शीतऋतु का सूर्य सबको प्रिय होता है, क्योंकि तब उसका ताप सुखद होता है। इस दृष्टान्त से यह समझा जा सकता है कि ज्ञान का उपयोग क्या है--क्या वह प्रकाश देना है अथवा लोगों के मन में आतंक या भय की सृष्टि करना है? तात्पर्य यह है कि निरभिमानी व्यक्ति का ज्ञान लोगों के मन में प्रसन्नता और सुखप्रद उष्मा की सृष्टि करता है और अभिमानी का ज्ञान लोगों को सत्रस्त और भयभीत करता है, आतंकित करता है। इस प्रकार गोस्वामीजी यह संकेत करते हैं कि सूर्य के पास जो समस्याएँ हैं, वे ही साधन ज्ञान की भी समस्याएँ हैं। वे 'रामचरितमानस' में इस ज्ञान की व्याख्या दो प्रकार से करते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं--

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥३/१४/७

--'ज्ञान वह है, जहाँ मान आदि एक भी (दोष) नहीं है और जो सबमें समान रूप से ब्रह्म को देखता है।' और दूसरे स्थान पर लिखते हैं--

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम खोजत हरी ॥
७/१२/छ.३

--'जिन्होने मिथ्या ज्ञान के अभिमान में विशेष रूप से मतवाले होकर जन्म-मृत्यु (के भय) को हरने-

वाली आपकी भक्ति का आदर नहीं किया, हे हरि ! उन्हें देव-दुर्लभ (ब्रह्मा आदि के) पद को पाकर भी हम उस पद से नीचे गिरते देखते हैं।'

तो, प्रतापभानु ऐसे ही साधन-ज्ञान का प्रतीक है। उसके ज्ञान में ऐसी स्थितियाँ विद्यमान थीं, जिनके कारण वह निशाचर के रूप में दिखायी देने लगता है। फलस्वरूप वह रावण के रूप में जन्म लेता है। जब उसका विनाश होता है, तो उसका तेज भगवान् के मुख में समा जाता है––'तासु तेज समान प्रभु आनन' (६/१०२/९)। प्रतापभानु का ज्ञान-सूर्य जब वासना के मेघ से आवृत हो जाता है, तब उसमें निशाचरत्व की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार, अरिमर्दन, जो शत्रुओं का मर्दन करता है, सत्कर्म का प्रतीक माना गया है। सत्कर्म के द्वारा हम पाप का विनाश करते हैं। यह अरिमर्दन भानुप्रताप का अनुगामी है। मतलब यह कि जब कर्म ज्ञान का अनुगामी होगा, तो जीवन में सफलता ही सफलता मिलेगी।

अब जो विभीषण के रूप में जन्म लेते हैं, वे इस समय सत्यकेतु के पुत्र प्रतापभानु और अरिमर्दन के मंत्री हैं। इनका नाम है धर्मरुचि। गोस्वामीजी लिखते हैं––

> नृप हितकारक सचिव सयाना।
> नाम धरमरुचि सुक्र समाना॥ १/१५३/१

कितना सुन्दर नाम का चुनाव है? धर्मरुचि का तात्पर्य क्या है? जब हम किसी की प्रशंसा करते हैं,

तो उसे धर्मात्मा या धर्मप्राण कह देते हैं। पर वास्तव में धर्मात्मा और धर्मप्राण कितने लोग हैं ? हम लोग बहुधा धर्मरुचि ही होते हैं। धर्मात्मा और धर्मप्राणता तो कवित्व की भाषा है। धर्मप्राण का असल अर्थ यह है कि जैसे व्यक्ति बिना प्राण के जी ही नहीं सकता, उसी प्रकार बिना धर्म के भी वह न जी सकता हो। हम कहीं कहीं कोई गाथा पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति ने धर्म के लिए अपने प्राण दे दिये। तो, धर्म के लिए कोई प्राण कब देता है ? 'रामचरितमानस' में कहा गया है--

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ॥ १/२७/४

--'रघुकुल में सदा से यह रीति चली आयी है कि प्राण भले ही चले जायँ, पर वचन नहीं जाता।' इसका तात्पर्य क्या ? जो व्यक्ति यह मानता है कि धर्म मेरा प्राण है, वह यह सोचता है कि प्राण को खोकर भी मैं धर्म के प्राण के द्वारा अमर हूँ। जिस व्यक्ति के जीवन में धर्म के प्रति इतनी आस्था हो कि वह धर्म का परित्याग कर जीवित ही न रह सके और जो प्राणों का परित्याग करके भी धर्म का रक्षण करे, उसके लिए हम 'धर्मप्राण' शब्द का प्रयोग करेंगे। और 'धर्मात्मा' शब्द का अर्थ है ऐसा व्यक्ति, जिसके जीवन में, मन-प्राण में धर्म शाश्वत रूप से समा गया है। फिर 'धर्मरुचि' का क्या मतलब ? रुचि का अभिप्राय है 'जो व्यक्ति को अच्छा लगे'। लेकिन अच्छा लगने के साथ एक

समस्या होती है। जैसे, यदि भोजन या वस्त्र हमारी रुचि का मिल जाय, तो हमें प्रसन्नता होती है। पर यदि भोजन रुचि का न मिले, तो हम खाएँगे या नहीं? खाना तो पड़ेगा ही, पेट तो भरना ही पड़ेगा। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो धर्म में रुचि तो रखते हैं, पर जीवन की बाध्यताओं से ऐसा सोच लेते हैं कि जीवन में सब कुछ रुचि के अनुकूल ही तो नहीं प्राप्त होता, इसलिए वे आधा धर्म से समझौता कर लेते हैं। ये हैं धर्मरुचि। जो साधक हैं, धर्म की ओर अभिमुख हो रहे हैं, उनकी प्रारम्भिक स्थिति धर्म-रुचि की ही होती है। कम से कम यह अच्छा तो है, अधर्म की ओर तो उनकी रुचि नहीं होती। तथापि धर्मरुचि होने से ही काम नहीं चलता। विभीषण के जीवन की यही समस्या है। अधिकांश लोगों के जीवन की भी यही समस्या है। उनके जीवन में धर्म के प्रति रुचि होते हुए भी अधर्म के प्रति घृणा नहीं होती, विद्वेष नहीं होता। जैसे, अगर शरीर से आसक्ति हो, तो भोजन अरुचिकर होने पर भी हम शरीर के प्रति आसक्ति के नाते उसे ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार जब जीवन में अनेक आसक्तियाँ हमें घेर लेती हैं, तब भले ही धर्म में हमारी रुचि हो, हम जीवन में कहीं न कहीं समझौता किये बिना नहीं रहते। यह भूमिका आगे चलकर विभीषण के चरित्र और जीव के अन्तर्द्वन्द्व को समझने में सहायक होगी। इसीलिए गोस्वामीजी 'धर्म-

रुचि' नाम रखते हुए इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं। वे धर्मरुचि की तुलना शुक्राचार्य से करते हैं, जो दानवों के गुरु थे--'नाम धरमरुचि सुक्र समाना'।

हमारे यहाँ ये दो महान् विद्वान् माने गये हैं-- देव-गुरु बृहस्पति और दैत्य-गुरु शुक्राचार्य। गोस्वामीजी चाहते तो धर्मरुचि की तुलना देव-गुरु बृहस्पति से कर सकते थे। पर उन्होंने नहीं किया। ऐसा नहीं था कि आचार्य बृहस्पति धर्मात्मा रहे हों और शुक्राचार्य अधर्मी। शुक्राचार्य भी धर्मात्मा थे। पर दोनों में एक अन्तर था। वैसे कहा जा सकता है कि शुक्राचार्य में बृहस्पति की अपेक्षा कुछ विशिष्ट ही ज्ञान था। आपने पुराणों में पढ़ा होगा अथवा सत्संग में सुना होगा कि शुक्राचार्य को मृतसंजीवनी विद्या का ज्ञान था, जिसके द्वारा वे युद्ध में देवताओं द्वारा मारे जानेवाले दैत्यों को जीवित कर दिया करते थे। तब यह कथा आती है कि बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को शुक्राचार्यजी के पास मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त करने के लिए भेजा। शुक्राचार्य की कैसी उदारता थी! यह जानकर भी कि कच मेरे प्रतिद्वन्द्वी का पुत्र है, शुक्राचार्य ने उसे मृतसजीवनी विद्या का दान करने में संकोच नहीं किया। इस कथा का तत्त्व क्या है? यही कि बृहस्पति और शुक्राचार्य दोनों ज्ञानवान् हैं, पर दोनों के ज्ञान में एक अन्तर है। एक देव-गुरु बन गये, तो दूसरे दैत्य-गुरु। व्यंग्य यह है कि दैत्य-गुरु महोदय मृतसंजीवनी विद्या जानते तो हैं, पर

उसका प्रयोग करते हैं दैत्यों को अमर बनाने में। यह तो वैसी ही बात हो गयी, जैसे कोई ज्ञान पाकर ज्ञान के मद में उन्मत्त हो चरित्र से हीन हो जाय। गोस्वामीजी संकेत करते हैं--

पर त्रिय लंपट कपट सयाने।
मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर।
देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥ ७/९९/१-२

--'जो परायी स्त्री में आसक्त, कपट करने में चतुर और मोह, द्रोह और ममता में लिपटे हुए हैं, वे ही मनुष्य अभेदवादी (ब्रह्म और जीव को एक बतानेवाले) ज्ञानी हैं। मैंने उस कलियुग का यह चरित्र देखा।'

तो, यदि व्यक्ति शुक्राचार्य के समान मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त कर दैत्यों को अमर बनाये, तो यह चरित्र की दुर्बलता का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष क्या है? इस सम्बन्ध में एक कथा आती है, जो आप लोगों ने मुझसे पिछली यात्राओं में सुनी होगी। तब मैंने उसका एक अंग कहा था। वह यह कि जब भगवान् वामन-रूप में बलि की यज्ञशाला में पधारे और बलि ने भगवान् को ब्राह्मण समझकर जो इच्छा हो माँग लेने के लिए कहा, तब शुक्राचार्य ने बलि को एकान्त में बुलाया। उन्होंने भगवान् को पहचान लिया था। वे बलि से बोले--"यह जो ब्रह्मचारी देख रहे हो, जानते हो यह कौन है?" जब बलि ने अनभिज्ञता प्रदर्शित की, तो शुक्राचार्य ने कहा--"यह साधारण ब्रह्मचारी नहीं है, साक्षात् भगवान्

हैं।" बलि बड़ा प्रसन्न हुआ कि उसकी यज्ञशाला में साक्षात् भगवान् पधारे। पर शुक्राचार्य बिगड़ गये, बलि से बोले--"तू तो बड़ा प्रसन्न हो रहा हैं, पर तू जानता नहीं, ये सारी सम्पत्ति छीनने आये हैं। इसलिए जा, तू कह दे कि मैं आपको नहीं दूँगा।" बलि के मन में सात्त्विक अभिमान पैदा हुआ। उसने शुक्राचार्य से कहा, "अब जब भगवान् ही माँगने आ गये हैं, तो नाही क्या? जब हमने वचन दे दिया है, तो अब उससे मुकरेंगे नहीं।" शुक्राचार्यजी बड़े बिगड़े, बोले--"गुरु की बात नही मानता?" बलि ने कहा, "महाराज, मैंने जब वचन दे दिया है, तो अब पीछे कैसे हटूँ?" परिणाम यह हुआ कि बलि की यज्ञशाला में जब भगवान् संकल्प पढ़ने चले, तो शुक्राचार्य ने सोचा कि बलि को दान देने से किसी प्रकार रोकना चाहिए। और तब उनके चरित्र की दुर्बलता प्रकट हो गयी। ज्ञानी जब यह सोचने लगे कि वह भगवान् के संकल्प को रोक सकता है, तब यही समझना चाहिए कि उसके चरित्र की दुर्बलता प्रकट हो गयी। और शुक्राचार्य ने संकल्प को रोकने का कौन सा उपाय सोचा? हमारे यहाँ ऐसी परम्परा है कि संकल्प बोलने के समय पात्र में जल ले, यजमान के हाथ में कुश देकर, उस पर जल छोड़ संकल्प बोला जाता है। तो, जिस समय भगवान् वामन ने बलि के हाथ में कुश दिया और पात्र से जल ढालने लगे, तो शुक्राचार्यजी जाकर जलपात्र के छिद्र में बैठ गये। मतलब था

कि जल नहीं गिरेगा, तो संकल्प नहीं बोला जायगा, और और यदि संकल्प नहीं बोला गया, तो हमारे यजमान का राज्य नहीं जायगा ! योजना बड़ी लम्बी थी। भगवान् जल ढालना चाहते हैं, पर शुक्राचार्यजी रोक देते हैं। जब जलपात्र से जल नहीं गिरा, तो भगवान् मुसकराये। वे यजमान के हाथ से कुश लेकर जलपात्र के छिद्र को साफ करने लगे। इससे शुक्राचार्यजी का एक नेत्र फूट गया। तब शुक्राचार्यजी उस छिद्र से निकलकर भागे और पात्र से जल गिरने लगा। भगवान् ने संकल्प के द्वारा दान ले लिया। आप भले ही इस पर ध्यान न दें कि एक नेत्र फोड़ दिया गया, पर इस पर तो आप अवश्य ध्यान दें कि किससे उनकी आँख फोड़ी गयी। आँख किसी बाण से नहीं फोड़ी थी, कुश के अग्र-भाग से फोड़ी। यदि किसी की बुद्धि बड़ी पैनी हो, तो उसे कुशाग्रबुद्धि कहते हैं। कुश का अग्र भाग बड़ा पैना होता है। भगवान् का व्यंग्य यह था कि शुक्राचार्य, तुम्हारी बुद्धि है तो बड़ी कुशाग्र, पर तुम इस कुशाग्रता का दुरुपयोग ही कर रहे हो। लो, कुशाग्रता से तुम्हारी आँख ही फूट गयी। यदि तुम इतनी कुशाग्र बुद्धि वाले न होते, तो शायद आँख फूटने की नौबत नहीं आती। तुम्हारी बुद्धि इतनी पैनी है कि तुमने तुरन्त पहचान लिया कि मैं भगवान् हूँ, पर तुमने अपनी इस पैनी बुद्धि का उपयोग किस कार्य के लिए किया, जरा सोचो तो ? इस पर शुक्राचार्य ने पूछा--कुश संकल्प पढ़ने के

लिए है या आँख फोड़ने के लिए ? भगवान् ने कहा--अच्छा, तुम्हीं बताओ कि बुद्धि की कुशाग्रता का उपयोग भगवान् को पहचानकर यजमान को समर्पण के संकल्प के लिए प्रेरित करना है अथवा यजमान को अपने समर्पण के संकल्प से च्युत करना है ? 'रामचरितमानस' में आता है---

'ग्यान बिराग नयन उरगारी' (७/११९/१४)

--ज्ञान और वैराग्य ये दो नेत्र हैं । भगवान् का व्यंग्य यह था कि शुक्राचार्य, तुम्हारा ज्ञान का नेत्र तो बढ़िया है, क्योंकि तुमने मुझे तुरन्त पहचान लिया, पर लगता है तुम्हारा वैराग्य का नेत्र काम नहीं करता । यदि वह काम करता होता, तो मुझे पहचानकर तुम प्रसन्न हो जाते और बलि से कहते कि ये तो साक्षात् भगवान् हैं, जो माँगें दे दो । पर तुम्हारा वैराग्य-नेत्र दृष्टिशून्य हो गया है, वह नकली है, आँख होने का भ्रम भर उत्पन्न कर रहा है, इसलिए उसे रखने से कोई लाभ नहीं, उसे फोड़ देना ही अच्छा है, ताकि भ्रम तो न हो कि तुम्हारे वैराग्य-नेत्र भी है । इस प्रकार हम शुक्राचार्य के जीवन में ज्ञान की अलग अलग स्थितियाँ देखते हैं । एक ओर, जैसा हमने कहा, वे बड़े ज्ञानवान् हैं, कच को अपनी विशिष्ट क्षमता का दान करते हैं, उसे मृत-संजीवनी विद्या सिखाते हैं---इससे दैत्य लोग बड़े रुष्ट होते हैं और वे कच को कई बार मारने की भी चेष्टा करते हैं, पर शुक्राचार्य बार बार कच को जीवन-

दान देकर संजीवनी विद्या सिखाते हैं; पर दूसरी ओर वे ज्ञान के चरम तात्पर्य को अपने जीवन में पूरा नहीं कर पाते।

ऐसे शुक्राचार्य से धर्मरुचि की तुलना की गयी है, क्योंकि धर्मरुचि के इस जन्म में, तथा अगले जन्म में भी, जो समस्या है, वह शुक्राचार्य की समस्या से भिन्न नहीं है। धर्मरुचि अगले जन्म में विभीषण बन रावण और कुम्भकर्ण के भाई के रूप में, मंत्री के रूप में जीवन की बाध्यताओं का अनुभव करता है। होना तो यह चाहिए था कि ज्ञानरूप विभीषण को देवता और सद्-गुणों का पक्ष लेना था, पर वे पुण्यों के साथ न जुड़, पाप और अन्याय के साथ जुड़ जाते हैं। यह चरित्र-पक्ष की दुर्बलता है। इसी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गोस्वामीजी प्रतापभानु, अरिमर्दन और धर्मरुचि के माध्यम से करते हैं। वे धर्मरुचि का परिचय देते हुए कहते हैं--

> सचिव धरमरुचि हरि पद प्रीती।
> नृप हित हेतु सिखव नित नीती।। १/१५४/३

--'धर्मरुचि मंत्री का श्री हरि के चरणों में प्रेम था। वह राजा के हित के लिए सदा उसको नीति सिखाया करता था।' यह शिक्षा देनेवाली बात है तो बहुत अच्छी, पर साथ ही यह भी ध्यान रहना चाहिए कि शिक्षा देनेवाले ने स्वयं शिक्षा ग्रहण की है या नहीं। यदि शिक्षक अपनी शिक्षा का स्वयं ही आचरण न करे, तो दूसरों पर उसका क्या प्रभाव होगा? जो विद्यार्थी है, वह तो

यह मानकर चलता है कि हमें इन शिक्षक महोदय से सीखना है; वह यदि भूल करेगा, तो शिक्षक उसे रोकेंगे। पर शिक्षक भूल करे, तो कौन रोकेगा ? शिक्षक बुद्धिमान् होता है, वह अपनी बुद्धिमत्ता से अपनी भूल का भी समर्थन कर लेता है, यही शिक्षक की समस्या है। वह दूसरों को तो अच्छी अच्छी शिक्षा देता है, पर कभी कभी स्वयं अशिक्षित रह जाता है। तो, धर्मरुचि के सम्बन्ध में यह जो 'नृप हित हेतु सिखव नित नीती' की बात है, वह उसके साथ उस जन्म में तो बनी ही रहती है, पर जब वह विभीषण के रूप में जन्म लेता है, तब भी बनी रहती है। तभी तो आगे चलकर हनुमानजी ने इस पर व्यंग्य किया था। जब लंका में उनका विभीषण से मिलन हुआ, उस समय वे सीताजी को खोजते-खोजते थक चुके थे। मिलन के बाद दोनों में वार्तालाप होता है। जब वार्तालाप समाप्त हो जाता है, तब अन्त में हनुमानजी विभीषण से कहते हैं--

तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता॥ ५/७/४

--'भाई विभीषण, मैं जगज्जननी श्री सीताजी के दर्शन करना चाहता हूँ।' और तब क्या हुआ ?--

जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। ५/७/५

--विभीषणजी ने हनुमानजी को सारी युक्ति बता दी कि सीताजी के दर्शन कैसे मिलेंगे। हनुमानजी इस पर कृतज्ञ तो हुए, पर दूसरी ओर उन्होंने विभीषण पर संकेत से व्यंग्य भी किया। व्यंग्य यह था कि दूसरों को

सीताजी के दर्शन की युक्ति बतानेवाले ने स्वयं सीताजी के दर्शन किये हैं या नहीं ! विभीषण ने श्री सीताजी के दर्शन नहीं किये थे। वे मन्दिर में ही भगवान् राम और जानकीजी की पूजा करके सन्तुष्ट थे। रावण ने उनकी उपास्य देवी को लंका में बन्दिनी बनाकर रखा था। उनके दर्शन की युक्ति विभीषण से सुनकर दूसरे तो उसका सहारा लेते हुए सीताजी के दर्शन कर लेते हैं, पर विभीषण स्वयं उस युक्ति का प्रयोग नहीं करते, अपने जीवन में उसे उतार नहीं पाते। यही उनके जीवन की विडम्बना है। शिक्षक विद्यार्थी के तो दोष देखता है, पर वह स्वयं अपने दोषों की ओर नहीं देख पाता। विद्यार्थी यदि शिक्षक के दोष देखे, तो वह दोषपूर्ण माना जायगा। इसलिए शिक्षक का कर्तव्य है कि वह पहले अपनी ओर देखे, अपने दोषों को पकड़ने की चेष्टा करे, जो उपदेश वह दूसरों को देता है, उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसके जीवन में अभिमान की सृष्टि हो सकती है, जो उसे वास्तविकता को देखने से वंचित कर सकता है। यह समस्या धर्मरुचि के रूप में भी दिखायी देती है तथा विभीषण के रूप में भी। इस समस्या का वर्णन गोस्वामीजी हमारे समक्ष सांकेतिक भाषा में करते हैं और उस क्रमिक रूप को भी सामने रखते हैं, जिससे ईश्वर का अंश यह जीव बुरा और पापी हो जाता है, राक्षस हो जाता है।

गोस्वामीजी 'रामचरितमानस' में लिखते हैं--

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥ ७/११६/२

--'जीव ईश्वर का अंश है, अतएव वह अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभाव से ही सुख की राशि है।' ऐसी परिस्थिति में जीव बुरा कैसे बन जाता है, यह हमें प्रतापभानु, अरिमर्दन और धर्मरुचि की कथा से ज्ञात होता है। वहाँ ज्ञान है, सत्कर्म है और धर्म में रुचि भी है, पर इतने से जीवन की समस्या का समाधान नहीं हो पाता और जीव अन्ततोगत्वा निशाचरत्व से आवृत हो जाता है तथा धर्म के विरुद्ध आचरण करने के लिए बाध्य हो जाता है। प्रतापभानु, अरिमर्दन और धर्मरुचि की कथा मानो हमारी अपना कथा है। गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रतापभानु ने सारे संसार को जीत लिया और वह धर्मपूर्वक शासन करने लगा। उसने 'गीता' के दो श्लोकों को अपने जीवन में उतारने की घोषणा की--एक तो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (२/४७) और दूसरा, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' (९/२७)।

एक सज्जन ने मुझसे ऋषिकेश में प्रश्न किया कि जिस प्रकार 'गीता' में निष्कामता की चर्चा बार बार की गयी है और सकामता की निन्दा की गयी है, उसी प्रकार 'रामचरितमानस' में निष्कामता की वैसी चर्चा

और सकामता की निन्दा क्यों नहीं की गयी है ? यों तो सकामता की सांकेतिक रूप में निन्दा 'रामचरित-मानस' में भी है तथा निष्कामता की भी वहाँ बार बार प्रशंसा की गयी है, पर इसमें सन्देह नहीं कि 'गीता' में निष्कामता की जितनी व्यापक प्रशंसा और सकामता की जितनी निन्दा है, उतनी 'मानस' में नहीं। इसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण है। वह यह कि निष्कामता है तो बड़ी अच्छी, पर सच्ची निष्कामता कहाँ मिलती है ? अधिकांशतः झूठी निष्कामता ही देखने में आती है और ऐसी झूठी निष्कामता की अपेक्षा सकामता ही श्रेष्ठ है, अधिक कल्याणकारी है। इसे यों समझें, जैसे किसी को एक हजार रुपया का एक नकली नोट मिल जाय और दूसरे को एक रुपये का असली नोट। तो, इन दोनों में एक रुपये का असली नोट ही अधिक मूल्यवान् है, उससे कुछ तो चीजें मिलेंगी। पर हजार रुपये के नकली नोट से कोई छोटीसी भी वस्तु नहीं मिल सकती। उल्टे वह जेल में भेजकर पास की वस्तुओं को भी नष्ट करा देगा। अतः सच्ची निष्कामता की तुलना एक रुपये के असली नोट से की जा सकती है और झूठी निष्कामता की तुलना एक हजार रुपये के नकली नोट से। अब प्रश्न यह है कि निष्कामता अगर झूठी है, तो सकामता अच्छी है या नहीं ? हम इसका उत्तर प्रतापभानु के प्रसंग में पाते हैं। 'गीता' की निष्कामता को समझने के लिए 'रामचरितमानस' सर्व-श्रेष्ठ साधन है।

प्रतापभानु के प्रसंग में गोस्वामीजी 'गीता' के उपर्युक्त दो श्लोकों का अनुवाद कर देते हैं। जहाँ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' की बात है, वहाँ वे लिखते हैं--

हृदयँ न कछु फल अनुसंधाना।
भूप बिबेकी परम सुजाना॥ १/१५५/१

--'राजा के हृदय में किसी फल की कामना न थी। राजा बड़ा ही बुद्धिमान् और ज्ञानी था।' दूसरे श्लोक के सन्दर्भ में गोस्वामीजी लिखते हैं--

करइ जे धरम करम मन बानी।
बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥ १/१५५/२

--'वह ज्ञानी राजा कर्म, मन और वाणी से जो कुछ भी धर्म करता था, सब भगवान् वासुदेव को अर्पित करके करता था।' इसका तात्पर्य यह कि राजा के जीवन में फल का कोई अनुसन्धान नहीं था।

यह गोस्वामीजी की निरूपण-शैली का वैशिष्ट्य है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि मात्र ऊँची ऊँची घोषणाओं से जीवन सार्थक नहीं होता। प्रतापभानु ने समर्पण की घोषणा की, तो क्या उससे उसके जीवन में समर्पण आ गया? उसने फलाकांक्षा न रखने की घोषणा की, तो क्या उससे उसकी चाह मिट गयी? प्रतापभानु और अरिमर्दन--ज्ञान और सत्कर्म--दोनों के जीवन में ऊपर ऊपर से फलाकांक्षा का अभाव दिखता है, पर निष्कामता की परीक्षा कब होती है? एक सज्जन ने कहा कि मुझे भूख नहीं है। मैंने सुना कि पहले उसने पेट भर खा

लिया है। अब भूख की परीक्षा कब होगी--भोजन कर लेने के बाद अथवा भोजन न मिलने पर ? इसी प्रकार, जीवन में फलाकांक्षा का अभाव है इसका पता कब चलेगा--कामनाओं की पूर्ति होते रहने पर, या कि कामनाओं की पूर्ति में बाधा पड़ने पर ? प्रतापभानु सोचता था कि मेरे मन में फल की आकांक्षा नहीं है। श्रीभगवान् ने एक दिन कौतुक किया। गोस्वामीजी लिखते हैं कि तब प्रतापभानु का सारे संसार में राज्य हो चुका था। वह एक दिन वन में शिकार खेलने गया--

बिंध्याचल गभीर बन गयऊ।
मृग पुनीत बहु मारत भयऊ॥ १/१५५/४

--और जो भी पशु दिखायी दिया, उस पर बाण का प्रयोग किया। जब पशु बाण की चोट खाकर गिर जाता, तो सब सेवक 'वाह वाह' करने लगते। कहते--क्या निशाना है, क्या लक्ष्य है, एक भी बाण व्यर्थ नहीं जाता! धीरे धीरे दिन ढलने लगा और तब उसे एक सूअर दीख पड़ा--

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू।
जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू॥ १/१५५/५

इस शूकर को देख गोस्वामीजी ने बड़ी सुन्दर काव्य-कल्पना की है। सूअर था तो काला, पर उसके दाँत सफेद थे। गोस्वामीजी कहते हैं कि उसे देख ऐसा लग रहा था मानो चन्द्रमा को ग्रसकर राहु भागा जा रहा हो। इसमें प्रतीकात्मक संकेत यह था कि यदि प्रतापभान

सावधान होता, तो समझ लेता कि जब चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया है, तब प्रतापभानु को भी कहीं न ग्रस ले; क्योंकि ग्रहण चन्द्रमा पर ही थोड़े ही लगता है, सूर्य पर भी तो लगा करता है। जो सच्चा साधक होता है, वह दूसरे को अज्ञान में पतित देख, दूसरे के ज्ञान-प्रकाश को अज्ञान-अन्धकार से आवृत देख सावधान हो जाता है कि कहीं हमारी भी इसकी जैसी दुर्दशा न हो जाय, कहीं हम भी न फँस जायं। पर प्रतापभानु के मन में उल्टी बात आ गयी। गोस्वामीजी कहते हैं--वाराह काला है और उसके सफेद दाँत चमकीले हैं। ऐसा लग रहा है, मानो--

बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं।
मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं॥ १/१५५/६

--'चन्द्रमा बड़ होने से उसके मुख में नहीं समा रहा है और मानो क्रोधवश वह भी उसे उगलता नहीं है।' यह बड़ा सांकेतिक है। न तो ज्ञान एकदम निरावृत है और न ही पूरी तरह आवृत। राजा ने सोचा कि यह तो नयी वस्तु आ गयी, इस पर बाण का प्रयोग किया जाय। तुरत उसने सूअर पर बाण चलाया। आप जानते हैं कि बाण के अग्र भाग में फल लगाया जाता है। 'रामायण' में जितने योद्धा हैं, सबके पास फलवाले बाण हैं। फलरहित बाण केवल दो के ही पास थे--एक तो भगवान् राम के पास और दूसरे, श्री भरत के पास। भगवान् राम ने फलरहित बाण का प्रयोग मारीच पर किया और श्री भरत ने हनुमानजी पर--

देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि ।
बिनु फर सायक मारेउ चाप श्रवन लगि तानि ॥ ६/५८

—"भरतजी ने आकाश में अत्यन्त विशाल स्वरूप देखा, तब मन में अनुमान किया कि यह कोई राक्षस है। उन्होंने कान तक धनुष को खींचकर बिना फल का एक बाण मारा।' इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक बाण के चलानेवाले की दृष्टि अपने बाण के आगे फल पर होती है, जिसे वह पाना चाहता है। फल की दृष्टि से रहित कर्म या तो भगवान् राम के जीवन में है, या फिर भरतजी के जीवन में। और यह जो प्रतापभानु, जिसने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की घोषणा कर रखी थी, क्या करता है? वह फलवाला बाण वाराह पर चलाता तो है, पर वाराह चतुर है, अपने को बचा लेता है। बाण व्यर्थ जाता है। तब प्रतापभानु 'गीता' का सारा ज्ञान भूल जाता है, फलाकांक्षा-त्याग की बात भूलकर सूअर के पीछे लग जाता है—

प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा ।
रिस बस भूप चलेउ सँग लागा ॥ १/१५६/४

राजा का निशाना चूक जाने से साथ के लोगों में सन्नाटा छा गया। अभी तक तो वे 'वाह वाह' कह रहे थे, राजा को शाबाशी दे रहे थे कि क्या निशाना है, कैसा सधा हाथ है, पर अब सब चुप हो गये। सबकी चुप्पी राजा को खल गयी और वह रोषपूर्वक सूअर के

पीछे भागा। जो व्यक्ति अपने को फलाकांक्षा से रहित समझता था, जो समझता था कि उसके अन्तःकरण की सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, जब परीक्षा का समय आया तो पता चला कि उसमें फलाकांक्षा का अभाव नहीं है। आकांक्षा के निष्फल होने पर व्यक्ति की वास्तविकता सामने आती है। भले ही व्यक्ति हजार बार सफल हो, पर जब वह एक बार भी असफल होता है, तो उसका सन्तुलन नष्ट हो जाता है। वह यह मानकर सन्तुष्ट नहीं होता कि चलो, हम हजार बार तो सफल रहे, एक बार असफल हुए तो क्या हुआ। वह तो एक बार का घाटा भी उठाने के लिए तैयार नहीं होता। और ईश्वर ऐसा कौतुकी है कि वह ऐसी स्थिति अवश्य ला देता है, जिससे व्यक्ति कहीं न कहीं असफल अवश्य हो जाय। तात्पर्य यह है कि जीवन में सदैव सफलता ही सफलता का मिलना जीवन का नियम नहीं है।

हम पुराणों में वसिष्ठ और विश्वामित्र का झगड़ा पढ़ते हैं। ये दोनों महात्मा हैं। दोनों में विचारधारा का संघर्ष है। दोनों की विचारधाराओं के मूल में एक मतभेद है। वसिष्ठ ब्रह्माजी के पुत्र हैं--विधिपुत्र हैं। इसलिए ये मानते हैं कि विधि के द्वारा ही, नियमों के अनुसार ही सारा संसार चलता है। वे 'मानस' में भरतजी से कहते हैं--

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥ २/१७१

तो, वसिष्ठ यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य अपने पूर्व-जन्मों के कर्मों से--प्रारब्ध से बँधा हुआ है, वह उसका व्यतिक्रम नहीं कर सकता। इधर विश्वामित्र में पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। विश्व के इतिहास में विश्वामित्र से बढ़कर पुरुषार्थवादी कोई नहीं हुआ। वे इतने बड़े पुरुषार्थवादी थे कि लोगों ने जिस कार्य को असम्भव कहा, उसे उन्होंने सम्भव करके दिखा दिया। वैसे भाग्यवाद और पुरुषार्थवाद का झगड़ा आज भी चलता रहता है। पर भगवान् राम की विशेषता यह थी कि उन्होंने भिन्न विचारधारा का पोषण करनेवाले इन दोनों महात्माओं को मिला दिया। दोनों ही श्री राम के गुरु थे। वसिष्ठ 'जन्मना वर्ण' के सिद्धान्त के कायल थे, जो मानता है कि मनुष्य का वर्ण जन्म से निश्चित होता है--जो ब्राह्मणजाति में जन्म ले, वह ब्राह्मण। उनकी ऐसी मान्यता थी कि क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेनेवाला व्यक्ति ब्राह्मण कैसे बनेगा? लेकिन पुरुषार्थ के द्वारा विश्वामित्र ने इसी जन्म में बिना शरीर के परिवर्तन के संसार में ब्रह्मर्षि की उपाधि प्राप्त की। उनके पुरुषार्थ की दूसरी घटना भी आपको मालूम होगी। एक हरिश्चन्द्र नामक राजा थे, उनके त्रिशंकु नामक पुत्र था। त्रिशंकु ने वसिष्ठजी से कहा, "महाराज, मैं स्वर्ग जाना चाहता हूँ।" वसिष्ठ बोले, "तो क्या तुम नरक जाओगे? जब इतने बड़े पुण्यात्मा हो, तब स्वर्ग ही जाओगे।" त्रिशंकु ने कहा, "महाराज, ऐसे नहीं, इस

प्रकार तो सभी लोग स्वर्ग जाते हैं।" "तो फिर किस प्रकार जाना चाहते हो, भाई?" वसिष्ठ ने आश्चर्य से पूछा। त्रिशंकु बोला, "मैं तो सशरीर स्वर्ग जाना चाहता हूं।" इस पर विधिपुत्र वसिष्ठ ने कहा, "यह नियम-विरुद्ध है। कानून और संविधान के विरुद्ध बात नहीं चलेगी। स्वर्ग जाने के लिए यहाँ शरीर छोड़कर जाना होगा।" तब त्रिशंकु विश्वामित्र के पास पहुँच गया और उनसे उसने वही अनुरोध किया। विश्वामित्र ने पूछा, "वसिष्ठ क्या कहते हैं?" त्रिशंकु ने कहा, "महाराज, वे तो इसे असम्भव कहते हैं।" "ठीक है," विश्वामित्र बोले, "मैं इसे सम्भव करके दिखा दूँगा।" और सचमुच विश्वामित्र ने उसे अपने पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में भेज दिया। इससे प्रारब्ध और पुरुषार्थ में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। विश्वामित्र ने अपने तप और सत्कर्म के द्वारा त्रिशंकु को ऊपर स्वर्ग में भेज तो दिया, पर देवताओं ने कहा कि यह नियमविरुद्ध है और उन्होंने ऐसा कह त्रिशंकु को नीचे ढकेल दिया। त्रिशंकु नीचे गिरने लगा तो चिल्लाकर विश्वामित्र से बोला, "महाराज, आपने मुझे ऊपर भेजा और अब मैं नीचे गिर रहा हूं। बचाइए!" विश्वामित्र बोले, "रुक जाओ।" और त्योंही त्रिशंकु रुक गया। वह बेचारा कैसा अभागा निकला--भाग्य और पुरुषार्थ की उलझन में बीच में लटक रहा है। न नीचे आ पा रहा है, न ऊपर जा पा रहा है। तत्पश्चात् विश्वामित्र ने उससे कहा, "मैं

तुम्हारे लिए दूसरे स्वर्ग का निर्माण कर दूँगा, तुम चिन्ता न करो।" यह बड़ी सांकेतिक कथा है। आप गंगा नदी की महिमा को तो जानते ही है। बिहार में एक नदी है कर्मनाशा। जैसे गंगाजी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसमें स्नान करने से पाप नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मनाशा के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि यदि उसमें किसी का पैर पड़ जाय, तो उसके पुण्य नष्ट हो जाते हैं। यह कर्मनाशा कहाँ से निकलती है? गोस्वामीजी 'रामचरितमानस' में कर्मनाशा का उल्लेख करते हुए कहते हैं——

कासी मग सुरसरि क्रमनासा।
मरु मारव महिदेव गवासा॥ १/५/८

——'काशी-मगध, गंगा-कर्मनाशा, मारवाड़-मालवा, ब्राह्मण-कसाई (ये सभी पदार्थ ब्रह्मा की सृष्टि में हैं)।' कहते हैं कि त्रिशंकु की जो लार गिरी, उससे कर्मनाशा निकल गयी।

हमारे काशीजी के एक पण्डित के यहाँ विवाह का आयोजन हुआ। लड़कीवालों का गाँव कर्मनाशा नदी के उस पार था। नदी इतनी छोटी थी और उसमें पानी इतना कम था कि नाव उसमें चल नहीं सकती थी। जो शास्त्रों के माननेवाले पण्डित बाराती थे, वे असमंजस में पड़ गये कि नदी को पार कैसे करें। यदि वे पैदल पार करते थे, तो नदी के जल के स्पर्श से उनके सारे पुण्यों के समाप्त हो जाने का खतरा था। कुछ लोगों ने

सुझाव दिया कि गाँव के बलिष्ठ व्यक्ति ऐसे लोगों को कन्धों पर बैठाकर नदी पार करा देंगे, जिससे कर्मनाशा के जल का स्पर्श न हो पाए। वैसा ही किया गया। पर एक दुर्भाग्य यह घट गया कि जो सबसे बड़े शास्त्री थे, वे जिसके कन्धे पर बैठे थे, वह फिसलकर गिर पड़ा। इससे शास्त्रीजी दुःखी तो हुए ही कि उनका सारा पुण्य समाप्त हो गया, साथ ही वे उस व्यक्ति पर खूब बिगड़े। इसमें एक व्यंग्य है। वह यह कि मनुष्य कितना स्वार्थी है--वह दूसरों के पुण्य को नष्ट कर अपने पुण्य को सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। यही जीवन की विडम्बना है।

तो, हमने कहा कि कर्मनाशा का उद्‌गम त्रिशंकु की लार से माना गया है और गंगा का उद्‌गम भगवान् के चरण से। वैसे तो त्रिशंकु भी पुण्यात्मा है, पर वह सशरीर स्वर्ग जाने का हठ करता है। इसका तात्पर्य यही कि वह अपने अहं की सन्तुष्टि ही चाहता है। उसका सशरीर स्वर्ग जाने की माँग करना अपने वैशिष्ट्य के प्रदर्शन के अलावे और कुछ नहीं है। और यह तो स्वाभाविक है कि जो पुण्य केवल अपने अहं की तृप्ति के लिए किया जायगा, उससे व्यक्ति का विनाश ही होगा। इसीलिए कर्मनाशा में स्नान करने से पुण्य नष्ट होते हैं। इसका अर्थ यह कि हम अहंकार से प्रेरित हो जितना भी सत्कर्म करेंगे, वह लार के रूप में टपककर हमारे पुण्य का ही नाश करेगा। यह ठीक है कि मुँह में रहने-

वाला लालारस भोजन को पचानेवाला होता है, पर यदि भोजन भी केवल अहं का प्रदर्शन हो, तो फिर क्या होगा ? दूसरी ओर भगवान् के चरणों से निकलनेवाली गंगा हैं, जहाँ प्रतिक्षण यह भावना है कि प्रत्येक सत्कर्म भगवान् की कृपा से, भगवान् के द्वारा होता है। तो, गंगा में स्नान करनेवाले का ध्यान भगवान् के चरणों में बना रहता है, जिससे उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे पुण्य की उपलब्धि होती है।

तो, इन परम पुरुषार्थी विश्वामित्र ने बीच में लटकते त्रिशंकु के लिए नये स्वर्ग के निर्माण का संकल्प ले लिया। मुनियों और देवताओं ने उनसे बड़ी प्रार्थना की कि "महाराज, आपमें इतनी सामर्थ्य हैं कि आप एक नये स्वर्ग की रचना कर सकते हैं, पर दया कीजिए, उससे बड़ी कठिनाई पैदा हो जायगी।" पर विश्वामित्र ने बात अनसुनी कर दी। तब ईश्वर ने एक दिन उनके जीवन में विफलता देकर उन पर कृपा कर दी। ईश्वर ने पूर्णता का अनुभव कराने के लिए उनके जीवन में भी विफलता की उत्पत्ति कर दी। गोस्वामीजी कहते हैं--

> बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।
> बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥
> जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।
> अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥ १/२०५/२-३

--मुनिजन जो यज्ञ करते हैं, वे निशाचरों के कारण पूरे नहीं हो पाते। भगवान् मानो यह व्यंग्य करते हैं

कि पुरुषार्थ से हर समय सफलता ही मिलेगी ऐसा नहीं है, कभी कभी विफलता भी मिला करती है। और जब विश्वामित्र का ध्यान विफलता की ओर गया, तब उनमें यह विचार उठा कि पुरुषार्थ से ही सब कुछ नहीं मिल सकता। असफलता के क्षणों में विश्वामित्र के हृदय में ईश्वर का चिन्तन हुआ—

> गाधितनय मन चिंता ब्यापी।
>
> हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ॥ १/२०५/५

यही विश्वामित्र के जीवन की विशेषता है। विफल होकर वे हताश और निराश नहीं होते। कई लोग पुरुषार्थ के विफल होने पर निराश हो आत्मघात कर बैठते हैं। यदि असफलता में विश्वामित्र के समान हमें प्रभु का स्मरण हो आए, तो समर्पण वृत्ति का उदय होता है। मुनि सोचने लगे कि ये निशिचर तो भगवान् के बिना और किसी से मरेंगे नहीं, इसलिए प्रभु को ही यहाँ लाया जाय। जब वे प्रभु का ध्यान करने लगे, तो पता चला कि उनका अवतार अयोध्या में राजा दशरथ के घर हो गया है। यह भी भगवान् का विश्वामित्र के साथ एक विनोद था। विश्वामित्रजी क्षत्रियकुल में जनमे। जीवन भर साधना करते करते तब कहीं ब्राह्मण बने और इधर देखो तो भगवान् क्षत्रिय बनकर आ गये! मानो भगवान् उनसे कहते हों कि भाई, तुम तो मुझे पाने ऊपर चले गये, पर मैं तो नीचे उतर आया हूँ, अतः तुम्हें भी नीचे उतरना पड़ेगा। ईश्वर को पाने

के लिए विश्वामित्र नगर छोड़कर वन को गये थे और अब ईश्वर कह रहे हैं कि मुझे पाने के लिए तुम्हें वन से नगर में आना पड़ेगा। यही विश्वामित्र के साथ ईश्वर का विनोद था। वे मानो विश्वामित्र से कहते हैं-- विश्वामित्र, तुम मुझे पाना चाहते हो, तो तुम्हें क्षत्रिय के घर, नगर में आना पड़ेगा। साथ ही याद रखो, तुम्हें उनके घर जाना पड़ेगा, जिनके गुरु वे ही वसिष्ठ हैं, जिनसे जीवन भर तुम्हारा झगड़ा होता रहा है। कहना पड़ेगा कि विश्वामित्रजी महान् थे। वे समस्त अहंकार-अभिमान से ऊपर उठ गये और उन्होंने ईश्वर को पा लिया। मानो पुरुषार्थ और प्रारब्ध का मिलन हो गया।

भगवान् राम और लक्ष्मणजी का मेल भी मानो प्रारब्ध और पुरुषार्थ का मेल है। जब भी राम बोलते हैं, तो बहुधा प्रारब्ध की भाषा बोलते हैं और लक्ष्मणजी पुरुषार्थ के हिमायती हैं। समुद्र के प्रसंग में श्री राम विभीषण का पक्ष लेते हुए कहते हैं--

> सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
> करिअ दैव जौं होइ सहाई॥ ५/५०/१

--यदि दैव सहायक होगा, तो होगा। पर लक्ष्मणजी को यह बात नही रुचती। वे कह उठते हैं--

> कादर मन कहुँ एक अधारा।
> दैव दैव आलसी पुकारा॥ ५/५०/४

--'यह दैव तो कायर के मन का एक आधार (तसल्ली देने का उपाय) है। आलसी लोग ही दैव दैव पुकारा

करते हैं।' यही समन्वय है। तो, जब दोनों गुरुओं का मेल हो गया और सब विवाह के बाद अयोध्या लौटे, तो वसिष्ठ कथा कहने के लिए व्यासपीठ पर बैठे। श्रोताओं में श्री राम, लक्ष्मण आदि चारों भाई हैं, विश्वामित्रजी हैं, नगरवासी हैं। उस अवसर पर वसिष्ठ किसकी कथा सुनाते हैं? वैसे तो महर्षि विश्वामित्र ने अपने जीवन में सब प्रकार की सफलता प्राप्त की थी, पर एक बार वे अपने जीवन में बड़े दुःखी हुए, इसलिए कि सारे संसार ने उन्हें ब्रह्मर्षि कह दिया, पर वसिष्ठजी ने नहीं कहा। पुरुषार्थवादी व्यक्ति को यदि एक व्यक्ति विफल कह दे, तो उसे असन्तोष होने लगता है। पर आज यह क्या हो गया? आज वसिष्ठजी किसकी कथा सुना रहे हैं?--

मुनि मन अगम गाधिसुत करनी।
मुदित बसिष्ट बिपुल बिधि बरनी॥ १/३५८/६

--'जो मुनियों के मन को भी अगम्य है, ऐसी विश्वामित्रजी की करनी को वसिष्ठजी ने आनन्दित होकर बहुत प्रकार से वर्णन किया।'

बोले बामदेउ सब सांची।
कीरति कलित लोक तिहुँ माची॥
सुनि आनंदु भयउ सब काहू।
राम लखन उर अधिक उछाहू॥ १/३५८/७-८

--इस पर वामदेवजी बोले, 'ये सब बातें सत्य हैं। विश्वामित्रजी की सुन्दर कीर्ति तीनों लोकों में छायी हुई है।' यह सुनकर सब किसी को आनन्द हुआ, पर

सबसे अधिक आनन्द श्री राम-लक्ष्मण के हृदय में हुआ। मानो दोनों ने एक दूसरे की ओर देखकर कहा कि हम लोगों की जोड़ी के समान अब हमारे इन दोनों गुरुओं की भी जोड़ी बन गयी है। अब समाज में इन दो विचार-धाराओं का संघर्ष नहीं रहेगा, दोनों मिलकर लोक-कल्याण का कार्य करेंगे।

इस सब विवेचन का निष्कर्ष यह है कि विफलता हमें विश्वामित्र की भाँति ईश्वर की ओर ले जाए। पर प्रतापभानु के साथ ऐसा नहीं होता। विफलता प्रताप-भानु को ईश्वर की ओर नहीं ले गयी, बल्कि उसे जिससे विफलता मिली थी, उसी के पीछे भगा ले गयी। यही जीवन की विडम्बना है। विफलता पाने के बाद ईश्वर की ओर जाना एक सार्थक बात है, पर विफलता पाकर उसी लोभ और कामना के पीछे भागना मानो जीवन के प्रयोजन को ही नष्ट करना है। और इस भागने का परिणाम क्या होता है? विश्वामित्र को तो राम मिल गये, पर प्रतापभानु महोदय को कपटमुनि। प्रतापभानु भी नकली नोट था और कपटमुनि भी। वह तो संसार में जैसा होता है, 'झूठइ लेना झूठइ देना झूठइ भोजन झूठ चबेना' वाली कहावत चरितार्थ हो गयी। परिणाम यह हुआ कि दोनों ने एक दूसरे को ठगने की चेष्टा की। अन्त में हम देखते हैं कि प्रतापभानु अपनी उस निष्का-मता के द्वारा, जिसका वह संसार में प्रदर्शन कर रहा था, ठगा गया। वह अपनी प्रच्छन्न कामना के द्वारा

राक्षस के रूप में, रावण के रूप में जन्म लेता है और अरिमर्दन कुम्भकर्ण के रूप में। कृपया ध्यान दें, वह प्रतापभानु, जो ज्ञान का प्रतीक था, निशाचर बन जाता है, मोह का प्रतीक बन जाता है। जो अरिमर्दन सत्कर्म का प्रतीक था, वह कुम्भकर्ण बनता है, अहंकार का प्रतीक बनता है। यह स्वाभाविक ही है कि जहाँ ज्ञान आवृत होगा, वहाँ मोह के रूप में दिखायी देगा और जहाँ सत्कर्म आवृत होगा, वहाँ पर अहंकार का जन्म होगा। अब प्रश्न यह है कि धर्मरुचि इन दोनों के साथ राक्षस के रूप में क्यों जन्म लेता है ? अगली चर्चा में हम इसकी विस्तृत व्याख्या करेंगे, पर अभी एक सकेत दिये देते हैं। धर्मरुचि की इस जीवन में तथा अगले जीवन में, जब वह राक्षसवंश में जन्म लेता है, एक ही समस्या है, और वह यह कि उसकी धर्म की मान्यता नकली थी। उसके जीवन में धर्म के विषय में जो स्थिति थी, उसी से उसका वैसा पुनर्जन्म होता है। वह धर्म की स्थिति क्या थी? वह मान बैठा था कि मंत्री का कर्तव्य है कि वह राजा का निरन्तर साथ दे। राजा अनुचित भी करे, तो भी धर्म कहता है कि मंत्री को उसका साथ देना चाहिए ऐसी झूठी धर्मभावना धर्मरुचि ने अपने मानस में पाल रखी थी। यह तो वैसा ही हुआ, जैसे यह कहना कि उचित-अनुचित का विचार किये बिना पुत्र को पिता की तथा पत्नी को पति की आज्ञा का पालन करना धर्मशास्त्र में कर्तव्य के रूप में

प्रस्तुत किया गया है ! धर्मरुचि के जीवन में इस समस्या का विकराल रूप तब आता है, जब वह विभीषण के रूप में जन्म लेता है। विभीषण रावण का साथ नहीं छोड़ पाते। क्यों ? इसलिए कि उनके मन में वही मिथ्या धर्म सतत कहता रहता है कि बड़ा भाई तो पिता के तुल्य होता है, अतः बड़े भाई का साथ कैसे छोड़ा जा सकता है ? तो, पूर्वजन्म में भी साथ नहीं छोड़ा और इस जन्म में भी नहीं। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार का मिथ्या विचार अपने जीवन में पाल लेता है, तो उसकी दुर्दशा स्वाभाविक है। जैसे, यह ठीक है कि हाथ की रक्षा करनी चाहिए। पर मान लीजिए कि हाथ में ऐसा रोग हो गया, जिससे डाक्टर कहें कि यदि हाथ नहीं कटवा दोगे, तो तुम्हारा सारा शरीर नष्ट हो जायगा, तो हम क्या करेंगे ? यदि हम विवेकी होंगे, तो हाथ को कटवा लेंगे और शरीर की रक्षा करेंगे। पर यदि हम अविवेकी हुए, आसक्तिवाले हुए और कहने लगे कि भई, हाथ ने इतने दिनों तक जब हमारा साथ दिया है, तो हम उसे कैसे कटवाएँगे, तब तो हमारे प्राण ही नहीं बचेंगे। धर्म के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। हम ऐसी भ्रान्तियों को पालकर रखते हैं, जिनसे धर्म के लिए ही खतरा पैदा हो जाता है। इन भ्रान्तियों को मिटाना बड़ा कठिन है। मिथ्या धर्म का विचार न तो धर्मरुचि को प्रतापभानु और अरिमर्दन का त्याग करने देता है, न ही वह विभीषण को रावण और कुम्भ-

कर्ण से अलग करता है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए हनुमानजी ने विभीषण से एक वाक्य कहा—

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। ५/७/४

—'हे भाई विभीषण!' 'हे भाई' क्यों कहा? अब तक पूर्वजन्म का नाता जोड़कर तुम इतना कष्ट पा ही चुके हो, तो क्या अब भी रावण को भाई समझते रहोगे? लो, अब मैं तुमसे कहे देता हूँ कि तुम अन्तिम रूप से निर्णय कर लो कि रावण तुम्हारा भाई है अथवा मैं तुम्हारा भाई हूँ? लेकिन हनुमानजी के समझाने पर भी क्या विभीषण मिथ्या धर्म छोड़ पाते हैं? मिथ्या धर्म की जड़ें ऐसी गहराई में पैठी रहती हैं कि मनुष्य उससे सहसा मुक्त नहीं हो पाता। तो, मात्र ये दुष्कर्म ही नहीं, वरन् सत्कर्म, ज्ञान, यहाँ तक कि धर्म सम्बन्धी मान्यताएँ भी मनुष्य को अधर्म के लिए बाध्य करती हैं, उसके प्रति आसक्त बनाती हैं। परिणाम यह होता है कि हम धर्मरुचि होते हुए भी राक्षसत्व से जुड़ जाते हैं और बुराई के साथ हमारा जन्म होता है। ऐसी परिस्थितियों में से ऊपर उठकर जीव भगवान् को कैसे प्राप्त करता है, यही विभीषण-शरणागति है। इसकी चर्चा हम अगले प्रवचन से करेंगे।

०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) संत कष्ट सहि आपुहीं

शेख फरीद का एक गाँव में मुकाम था। वहाँ उनके दर्शन के लिए लोग आते और अपनी जिज्ञासा का निराकरण कराते। एक बार एक व्यक्ति ने उनसे प्रश्न किया, "महाराज! हमने सुना है कि जब प्रभु ईसा को सूली दी जा रही थी, तो उनके चेहरे से प्रसन्नता की आभा टपक रही थी और उन्हें सूली दिये जाने का जरा भी दुःख न था। इसके विपरीत उन्होंने भगवान् से यहूदियों को क्षमा करने की प्रार्थना की थी।" उस मनुष्य ने आगे कहा, "महाराज! हमने यह भी सुना है कि जब मन्सूर के हाथ-पैर काटे गये, आँखें फोड़ी गयीं, तो उसने 'हूँ' या 'चूँ' तक न की और सब कुछ उसने हँसते हुए सहन किया। क्या ऐसा सम्भव है? मुझे तो इस पर बिलकुल विश्वास नहीं होता।"

शेख फरीद ने प्रश्न को चुपचाप सुन लिया और उसे एक कच्चा नारियल देते हुए उसे फोड़ने के लिए कहा। उस व्यक्ति ने सोचा, शेख शायद प्रश्न का उत्तर दे नहीं पा रहे हैं इसलिए उसका ध्यान वे दूसरी तरफ मोड़ रहे हैं। वह बोला, "महाराज! आपने मेरे प्रश्न का जवाब नहीं दिया।" फरीद ने कहा, "पहले इस

नारियल को तो फोड़ो। लेकिन हाँ, ध्यान रखना कि इसकी गरी अलग निकल आए।"

"यह कैसे हो सकता है, महाराज!" वह व्यक्ति बोला, "यह नारियल तो कच्चा है और इसकी गरी और खोल दोनों जुड़े हुए हैं, इसलिए गरी को अलग कैसे निकाल सकता हूँ?"

सन्त ने तब एक दूसरा सूखा नारियल देते हुए उससे कहा, "अब इसे फोड़कर इसकी गरी देना।" उस व्यक्ति ने नारियल फोड़कर गरी (गोला) निकालकर उनके समक्ष रख दी। तब उन्होंने उससे पूछा "इसकी गरी कैसे निकल आयी?" उस व्यक्ति ने जवाब दिया, "यह सूखी थी, इसलिए खोल से अलग थी, इस कारण यह निकल आयी।" सन्त ने कहा, "तुम्हारे प्रश्न का भी यही उत्तर है। आम लोगों का शरीर खोल से जुड़ा हुआ होता है, इस कारण जब उनके शरीर को चोट पहुँचती है, तो उनकी अन्तरात्मा को भी चोट पहुँचती है, लेकिन ईसा और मन्सूर जैसे पहुँचे हुए महात्मा अपने शरीर को खोल से अलग रखते हैं, इस कारण यातना देने पर भी उन्हें न तो पीड़ा हुई, न ही उसका कुछ रंज हुआ। लेकिन तू तो मुझे कच्चा नारियल मालूम पड़ता है, इसी कारण तेरे मन में ये विचार उठे कि उन दोनों को यातना क्यों महसूस न हुई।"

(२) मानव-जन्म दुर्लभ है

महर्षि रमण के आश्रम के पास के एक ग्राम में एक अध्यापक रहता था। प्रतिदिन के कौटुम्बिक कलह से वह त्रस्त हो गया था। आखिर उसने आत्महत्या करने की सोची, ताकि वह रोज रोज की अशान्ति से मुक्त हो सके। किन्तु आत्महत्या का निर्णय लेना इतना आसान नहीं था। मनुष्य को अपने परिवार के भविष्य की ओर भी ध्यान देना होता है। ऐसे ऊहापोह में पड़ा वह व्यक्ति महर्षि रमण के आश्रम में पहुँचा और उसने प्रणाम करके सारी बात बताकर आत्महत्या के बारे में उनकी राय जाननी चाही। महर्षि उस समय आश्रमवासियों के भोजन के लिए बड़ी साव-धानी से पत्तलें बना रहे थे। वे चुपचाप उसकी बातें सुनने लगे। उस व्यक्ति ने सोचा कि शायद निर्णय लेने में स्वामीजी को विलम्ब हो रहा है। पत्तल बनाने में स्वामीजी के परिश्रम और तल्लीनता को देख उसे आश्चर्य हुआ। उसने आखिर पूछ ही लिया, "भगवन्! आप इन पत्तलों को इतने परिश्रम से बना रहे हैं, लेकिन थोड़ी देर बाद भोजन के उपरान्त ये कूड़े में फेंक दिये जाएँगे।"

महर्षि मुसकराते हुए बोले, "आप ठीक कहते हैं, लेकिन किसी वस्तु का पूरा उपयोग हो जाने के बाद उसे फेंकना बुरा नहीं। बुरा तो तब कहा जाएगा, जब उसका उपयोग किये बिना अच्छी अवस्था में ही कोई

फेंक दे। आप तो सुविज्ञ हैं, मेरे कहने का आशय तो समझ ही गये होंगे।" इन शब्दों से अध्यापक महाशय की समस्या का समाधान हो गया। उस परिस्थिति में भी उनमें जीने का उत्साह आ गया और उन्होंने आत्म-हत्या करने का विचार त्याग दिया।

(३) सा विद्या या विमुक्तये

स्वामी रामतीर्थ एक बार ऋषिकेश में गंगा किनारे घूम रहे थे कि उन्हें एक व्यक्ति दिखायी दिया, जो योगी-सा दिखायी दे रहा था। स्वामीजी ने उससे पूछा, "क्या आप योगी-संन्यासी हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "जी हाँ।"

स्वामीजी ने अगला प्रश्न किया, "आपको संन्यासी हुए कितने वर्ष हो गये ?"

"यही कोई चालीस वर्ष।"

"तब तो काफी अनुभवी हें आप! आपने इस दौरान कौनसी सिद्धि उपलब्ध की है ?"

योगी ने बड़े अभिमान से बताया, "सामने विस्तृत रूप से फैली जो यह गंगा नदी दिखायी दे रही है, वह मेरे लिए साधारण सड़क-सी है। मैं इसके पानी पर से चलकर आसानी से उस पार पहुँच सकता हूँ।"

"अच्छा!" आश्चर्य से स्वामीजी ने पूछा, "तब तो आप उस पार से इस पार भी आसानी से आ सकते होंगे ?"

"बेशक! मैं उस ओर से इस ओर भी आ सकता हूँ।"

"अच्छा ! आपकी और कौनसी उपलब्धि है ?"

"यह उपलब्धि क्या कम है !"

स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "निश्चय ही यह उपलब्धि कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। आपने इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए चालीस वर्ष व्यर्थ ही खो दिये, क्योंकि नाव से दो आने में इस पार से उस पार कोई भी जा सकता है। मनुष्य को तो ऐसी विद्या सीखनी चाहिए, जिससे दूसरों का भला हो और उसके जरिये वह स्वयं को भी मुक्ति दिला सके।"

(४) मेरा अपना कुछ नहीं

पारसी धर्मगुरु रवि मेहर के तीन पुत्र थे। वे तीनों के तीनों महामारी की चपेट में आ गये और अच्छी दवा के अभाव में जीवित न रह सके। मेहर उस समय बाहर गये हुए थे। सन्ध्या समय जब घर आये, तो उन्हें बच्चे दिखायी न दिये। उन्होंने सोचा, शायद सो गये होंगे। भोजन करते समय उन्होंने पत्नी से पूछा, "क्या आज बच्चे जल्दी सो गये ?" पत्नी ने इसका उत्तर दिये बिना उनसे कहा, "स्वामी ! कल हमने पड़ोसी से जो बर्तन लाये थे, उन्हें माँगने के लिए पड़ोसी आये थे।" मेहर ने कहा, "बर्तन उनके थे, इसलिए लेने आये थे। परायी वस्तु का मोह हम क्यों करें ?' पत्नी ने कहा, "आप ठीक कहते हैं। मैंने उन्हें वे बर्तन दे दिये।"

भोजन के उपरान्त सन्त को बच्चों का फिर स्मरण हो आया और उन्होंने पत्नी से उनके बारे में पूछताछ

को। तब पत्नी उन्हें शयनकक्ष में ले गयी और उसने चारपाई के नीचे रखे तीनों बच्चों के शव दिखाये। यह देखते ही सन्त फूट-फूटकर रोने लगे। तब पत्नी बोली, "स्वामी! आप अभी अभी तो कह रहे थे कि कोई व्यक्ति अपनी वस्तु लेना चाहे, तो हमें वह वस्तु दे देनी चाहिए और उसके लिए दुःख नहीं करना चाहिए, लेकिन आप स्वयं ही यह भूल रहे हैं। बच्चे भगवान् ने दिये थे, सो उन्होंने ले लिये, फिर हम उनके लिए क्यों वृथा शोक करें?"

इन शब्दों से सन्त का चित्त हलका हो गया और वे भगवद्-भजन में लीन हो गये।

(५) हिन्दू-तुरुक भेद कछु नाहीं

प्रयाग में स्वामी प्रपन्नाचार्य नामक एक महान् सन्त हो गये हैं। उनकी त्याग-वृत्ति तथा पाण्डित्य से लोग बड़े प्रभावित थे। प्रयाग में जब माघ का मेला भरता, तब वे शिविर लगाते और मध्याह्न समय भगवान् को भोग लगाकर उपस्थित लोगों को प्रसाद बाँटते। यह काम उनके प्रिय शिष्य गोविन्दजी, जो आगे चलकर परमार्थभूषण गोविन्दाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, के द्वारा किया जाता था।

एक बार गोविन्दजी प्रसाद का वितरण कर रहे थे कि स्वामीजी को बाहर कोलाहल सुनायी दिया। उन्होंने गोविन्दजी को बुलाकर कोलाहल का कारण

पूछा। गोविन्दजी ने कहा, "महाराज ! एक मियाँ आइ गवा रहा। ओही से बतियाव हुइ गवा।"

"काहे ?" स्वामीजी ने आश्चर्य से पूछा।

"महाराज ! ऊ परशाद माँगत रहा !"

"तो ओह का परशाद दिया को नाहीं ?"

"नाहीं महाराज !"

"काहे ?"

"महाराज ! ऊ जो मुसलमान रहा।"

यह सुनते ही महाराज को पश्चात्ताप हुआ। वे बोले, "गोविन्द ! हम तुहका गीता नहीं पढ़ावा ? गीता मां भगवान कहिन है--'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः'--तब तू ओह में बिराजमान वैश्वानररूपी नारायण का भोजन कारे तेऊं कि मुसलमान कां ? एही तुम गीता समझे हो ? भोजन तो नारायण कां जात है--ना हिन्दू कां, ना मुसलमान कां ! परशाद देत मां कोई भेद ना करो ! जाव, ओह का परशाद देऊ आवा।"

गोविन्दजी जब दरवाजे पर गये, तो उन्हें वह व्यक्ति दिखायी नहीं दिया। वह वहाँ से चला गया था। गोविन्दजी उसे ढूँढ़कर ले आये और उससे क्षमा माँग-कर उन्होंने उसे पेट भर भोजन कराया।

नैष्कर्म्य-मीमांसा

(गीता अध्याय ३, श्लोक ४-६)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

पुरुषः (मनुष्य) कर्मणाम् (कर्मों का) अनारम्भात् (अनुष्ठान न करके ही) नैष्कर्म्यं (नैष्कर्म्य की अवस्था को) न (नहीं) अश्नुते (प्राप्त कर सकता) च (और) संन्यसनात् एव (केवल कर्मत्याग से ही) सिद्धिं (सिद्धि को) न (नहीं) समधिगच्छति (प्राप्त करता) ।

"केवल कर्म का प्रारम्भ न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य की अवस्था को नहीं पा लेता, न ही कर्म का त्याग कर देने मात्र से सिद्धि को पाता है ।"

पिछली चर्चा में हमने देखा कि अर्जुन भगवान् कृष्ण की बातों को सही रूप में हृदयंगम नहीं कर पा रहा है । उसे लगता है कि वे ज्ञानयोग के रास्ते को कर्मयोग की अपेक्षा अधिक प्रशस्त मानते हैं । इसलिए वह कर्मसंन्यास की ओर आकर्षित होता है । श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो लक्षण बतलाये, वे उसे अत्यन्त लोभनीय लगे । वह देखता है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष को कर्मों की कोई झंझट नहीं । तो वह भी ऐसी अवस्था को

प्राप्त होना चाहता है, जहाँ उसे युद्धरूप घोर कर्म न करना पड़े। उसके मन के किसी गहरे कोने में यह आशंका दृढ़मूल हो गयी है कि सम्भवतः वह युद्ध जीत नहीं पाएगा। उसका यही भय वैराग्य का रूप लेकर बाहर आता है। श्रीकृष्ण महान् मनोवैज्ञानिक हैं। वे अर्जुन की इस मनःस्थिति को पहचान लेते हैं। इसीलिए वे पूर्व श्लोक में अर्जुन के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देते हुए सिद्धि-प्राप्ति के दो मार्गों का निर्देश देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में विचार, भावना और क्रिया की शक्तियाँ होती हैं। हर व्यक्ति में इनमें से कोई एक शक्ति अन्य दो शक्तियों की तुलना में अधिक प्रबल होती है। जिसमें विचारशक्ति की प्रधानता होती है, वह ज्ञाननिष्ठा का मार्ग चुनता है और जिसमें क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है, वह कर्मनिष्ठा का। दोनों ही निष्ठाएँ आत्म-ज्ञानरूप सिद्धि को प्राप्त कराती हैं। ज्ञाननिष्ठा में तपस्या, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन आदि मानसिक कर्मों का प्राधान्य होता है, वहाँ शारीरिक कर्म गौण होते हैं, जबकि कर्मनिष्ठा में दैहिक कर्मों की प्रधानता होती है; मनुष्य को समाज में अपनी स्थिति के अनुरूप कर्म करने पड़ते हैं। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि कर्म में चांचल्य है, विक्षोभ है। पर इसी कारण कोई अपने स्वभाव के विपरीत, कर्मनिष्ठा के पथ को छोड़कर ज्ञाननिष्ठा के पथ से जाना चाहे, तो यह कैसे सम्भव है? अर्जुन की ऐसी ही मनोदशा है। इसे समझाने के लिए हम मोटे

तौर पर एक उदाहरण का उपयोग कर सकते हैं। दो मित्र हैं। एक इंजीनियर है और दूसरा डाक्टर। दोनों अपने अपने कर्मों से देश की सेवा करना चाहते हैं। इंजीनियर ने बाँध बनाया। वर्षा से बाँध बह गया। उसकी बदनामी हुई, उसे बड़ा दुःख हुआ, वह सोचने लगा कि इससे तो अच्छा डाक्टर का काम है, मेरे काम में बड़ी झझट है। अब, यदि इंजीनियर ऐसा सोचे और ऐसी कल्पना करे कि वह भी डाक्टर की भाँति सेवा कर सकता तो अच्छा होता, तो क्या उसका ऐसा सोचना सार्थक है ? उसे यह समझ लेना चाहिए कि यदि सेवा करनी है, तो वह अपनी विद्या के द्वारा ही कर सकता है। जो सामयिक प्रतिक्रिया उसे प्राप्त हुई है, उसे वह विचार के सहारे लाँघ जाय और पूरे मनोयोग से अपने कर्म में जुट जाय। यही दशा अर्जुन की है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे बतला दिया कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा ये दोनों उस परमपद को पाने के तुल्य-बल रास्ते हैं, तथापि अर्जुन को भीतर ही भीतर स्थित-प्रज्ञ का नैष्कर्म्य भाव प्रलोभित करता है। उसे लगता है कि हम भी यदि कर्म की झंझट से बचकर नैष्कर्म्य में आ जायँ, तो उससे बढ़कर और कुछ नहीं। पर अर्जुन नहीं समझ पा रहा है कि यह नैष्कर्म्य बिना कर्म किये प्राप्तव्य नहीं है। इसीलिए कृष्ण उसे प्रस्तुत श्लोक में नैष्कर्म्य के सम्बन्ध में बतलाते हैं।

टीकाकारों ने 'नैष्कर्म्य' शब्द का अर्थ अलग अलग

प्रकार से किया है। प्राचीन टीकाकारों ने उसका अर्थ 'ज्ञाननिष्ठा' लिया है। व्याकरण की दृष्टि से 'नैष्कर्म्य' का अर्थ होता है 'कर्मराहित्य', यानी ऐसी स्थिति जहाँ कर्म का अभाव हो जाय। अब, कर्म के अभाव की स्थिति कैसे आये? जब भीतर ज्ञान का आलोक इतना प्रखर हो जाय कि यह सारा जगत्-प्रपंच असार और अर्थहीन मालूम पड़ने लगे, तो अपने आप कर्म की प्रेरणा कुण्ठित हो जाती है। यही ज्ञाननिष्ठा है। पर यह ज्ञान का आलोक भी बिना कर्म किये नहीं आता। पहले निष्काम बुद्धि से कर्म करना होगा। ऐसा कामनाहीन कर्म मन के मल को धो देता है। जब मन शुद्ध होता है, तब उसमें ज्ञान को धारण करने की योग्यता आती है, तब उसमें ज्ञान टिकता है। यह अभ्यास सतत करते रहने से मन अधिकाधिक शुद्ध होता है और ज्ञान में प्रगाढ़ता आती है। यही ज्ञाननिष्ठा की अवस्था है। इसी को 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। पर यदि कर्म का प्रारम्भ ही न किया जाय, तो यह नैष्कर्म्य कैसे प्राप्त होगा?

श्रीरामकृष्णदेव इस नैष्कर्म्य की व्याख्या भक्ति की दृष्टि से करते हैं। जब किसी ने उनसे पूछा कि कर्मत्याग कब होता है, उन्होंने उत्तर में कहा, "जब श्रीभगवान् का नाम एक ही बार जपने से रोमांच होता है, आँसुओं की धारा बहती है, तब निश्चय समझो कि सन्ध्यादि कर्मों की समाप्ति हो जाती है--तब कर्मत्याग का अधिकार पैदा हो जाता है, कर्म आप ही आप छूट जाते हैं।"

इसका भी तात्पर्य मन की शुद्धता से ही है। भगवान् का नाम जीव के हृदय को शुद्ध करता है। जब हृदय शुद्ध हो जाता है, तभी भगवान् के नाम का एक ही बार जप करने से आँसू बह पाते हैं और व्यक्ति रोमांचित होता है। जिसके जीवन में भक्ति की इतनी तीव्रता आ गयी, उसके सन्ध्या-वन्दनादि कर्म अपने आप समाप्त हो जाते हैं। यह जो कर्मों का अपने आप समाप्त होना है, इसे श्रीरामकृष्ण के जीवन को देखने से अच्छी तरह समझा जा सकता है। ज्ञानलाभ के पश्चात् जब वे हाथ में जल लेकर तर्पण करने गये, तो उनके हाथ अपने आप नीचे की ओर मुड़ गये और हथेली का जल नीचे गिर गया। श्रीरामकृष्ण इस सम्बन्ध में बाद में भक्तों और जिज्ञासुओं से कहते--देखो, शास्त्रों ने इसी को 'गलितकर्म' की अवस्था कहा है, जहाँ कर्म अपने आप झड़ जाते हैं। तो, जीवन में ज्ञान की ऐसी अवस्था होने पर अपने आप नैष्कर्म्य प्राप्त होता है। इसे श्रीरामकृष्ण दो प्रकार से समझाते हैं।

जैसे फोड़ा हो गया। वह जब सूखने लगता है, तो उस पर पपड़ी जम जाती है। फोड़ा जब पूरी तरह सूख जाता है, तब पपड़ी अपने आप झर जाती है। पर यदि कोई पपड़ी को जबरदस्ती निकालने की कोशिश करे, तो फोड़ा 'सेप्टिक' हो जाता है। इसी प्रकार जब जीवन में ज्ञान की प्रतिष्ठा हो जाती है, तो कर्म की पपड़ी अपने आप निकल जाती है। यदि कोई उसे जबरदस्ती निकालने

का प्रयास करे, तो उससे जीवन में ज्ञान नहीं आता। अर्थात्, ज्ञान के आने से कर्म की पपड़ी झरती है यह तो सत्य है, पर यह सत्य नहीं है कि कर्म की पपड़ी को झरा देने से ज्ञान आता है। श्लोक के उत्तरार्ध में जो कहा गया कि 'न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति' --'कर्म को त्याग देने मात्र से वह सिद्धि को नहीं पा लेता', उसका यही अर्थ है।

श्रीरामकृष्णदेव दूसरा उदाहरण एक गर्भिणी बहू का देते हैं। बहू घर का सारा काम-काज करती है। पर जैसे जैसे उसका गर्भ बढ़ता जाता है, वैसे वैसे उसकी सास उसका काम कम करती जाती है। आखिरी महीने में तो वह बहू को कोई काम ही नहीं करने देती। और जब प्रसव हो जाता है, तब बहू केवल शिशु को लेकर ही व्यस्त रहती है, उसे घर का अन्य काम-काज कुछ करना नहीं पड़ता। इसी प्रकार जीवन में ज्यों ज्यों ज्ञान परिपक्व होता है, त्यों त्यों कर्म अपने आप कम होते जाते हैं और ज्ञानरूप पुत्र की प्राप्ति के बाद तो केवल उसे ही लेकर रहना होता है, संसार के कर्म नहीं-से हो जाते हैं।

इन दो उदाहरणों से हम प्रस्तुत श्लोक को अच्छी तरह समझ सकते हैं। नैष्कर्म्य की अवस्था पाने के लिए पहले कर्मों का प्रारम्भ करना होगा। कर्मों के संन्यास से सिद्धि नहीं मिलती। श्लोक के पूर्वार्ध में यह बताया कि कर्मों का प्रारम्भ न करना एक दोष है और उत्तरार्ध

में कहा कि बीच में ही कर्मों को छोड़ देना यह दूसरा दोष है। पहले दोष का परिणाम यह है कि उससे नैष्कर्म्य नही सधता और दूसरे दोष का परिणाम यह है कि उससे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। 'सिद्धि' शब्द का अर्थ भाषा की दृष्टि से 'सफलता' होता है। यहाँ उसका अर्थ किया जा सकता है--'साधना में सफलता' या 'ज्ञान-लाभ', या 'मोक्ष', या 'बुद्धि का समत्व', जिसे गीता ने 'योग' कहकर पुकारा है। आचार्य शंकर ने 'सिद्धि' का अर्थ किया है--'नैष्कर्म्यलक्षणा', जिसका लक्षण निष्कर्म है, अथवा 'ज्ञानयोगेन निष्ठा', जो ज्ञानयोग से होनेवाली स्थिति है। इसी प्रकार, वे 'नैष्कर्म्य' का अर्थ 'निष्कर्मभाव', 'कर्मशून्यता' अथवा 'ज्ञानयोग से प्राप्त होनेवाली निष्ठा' करते हैं। इस तरह वे 'नैष्कर्म्य' और 'सिद्धि' को एक प्रकार से समान अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि 'नैष्कर्म्य' का व्यवहार शरीर की दृष्टि से हुआ है तथा 'सिद्धि' का, मन की दृष्टि से।

'नैष्कर्म्य' और 'सिद्धि' ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों में समान हैं. केवल उनके रूप में तनिक सा अन्तर होता है, स्वरूप में नहीं। जिस प्रकार ज्ञान के रास्ते जानेवाला व्यक्ति 'नैष्कर्म्य' और 'सिद्धि' को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कर्म के रास्ते जानेवाला व्यक्ति भी। ज्ञानी का 'नैष्कर्म्य' वह है, जहाँ ज्ञान की प्रखरता के कारण संसार की सार्थकता समाप्त हो जाती है और

कर्म की प्रेरणा का सारा उत्स ही सूख जाता है। ज्ञानी अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करता है और समझता है कि उसके लिए अब कोई कर्म शेष नहीं रहा। वह कछुए के समान अपने को जगत् और जागतिक विषयों से समेट लेता है और उतनी ही क्रिया करता है, जितनी उसके जीवन के लिए आवश्यक है। कर्मयोगी का 'नैष्कर्म्य' वह है, जहाँ वह तीव्र से तीव्र कर्म करता है, पर कर्म से अलिप्त रहता है। कर्म तब तक कर्म रहता है, जब तक उसके साथ कर्ता होता है। पर यदि कर्म से कर्ता निकल जाय, तो कर्म अकर्म हो जाता है, नैष्कर्म्य हो जाता है। जैसे सिद्ध तैराक। जब उसने तैरना सीखना शुरू किया था, तो उसके शरीर में कितनी चेष्टा थी और वह चेष्टा उसे कितना थका देती थी। पर जब वह तैरने में सिद्धि पा लेता है, तो पानी पर चित पड़ा रहता है, उसके शरीर में कोई चेष्टा नहीं दिखायी देती और वह तैरकर ताजगी और फुर्ती का अनुभव करता है। भौंरा जब पूरी तरह घूमता है, तो वह घूमता नहीं दिखायी देता, एक ही जगह खड़ा दिखायी देता है। तैराक के चित लेटकर तैरने में कितनी तीव्र क्रिया है, पर उस तीव्र क्रिया में कितनी शान्ति है! भौंरे के स्थिर खड़े दिखायी देने में कितनी तीव्र क्रिया है, पर उसमें हलचल का कितना अभाव है! इसी प्रकार कर्म-योगी का 'नैष्कर्म्य' वह अवस्था है, जहाँ वह तीव्र से तीव्र कर्म करता है, पर कर्तापन न रहने के कारण कर्म

उसे क्षुब्ध नहीं कर पाता। यही गीता में वर्णित 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' की स्थिति है। कर्मयोगी के लिए सिद्धि का अर्थ है उसकी अपनी साधना में सफलता।

इस प्रकार ज्ञानी और योगी दोनों को 'नैष्कर्म्य' और 'सिद्धि' की प्राप्ति होगी, पर कब? जब वे कर्म का प्रारम्भ करेंगे और बीच में ही कर्म को नहीं छोड़ देंगे, तब। अतएव दोनों के लिए कर्म करना अनिवार्य है। पर यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कर्म के पीछे किसी प्रकार की कामना न हो। कर्म में बन्धन है, वह कर्ता को बाँध लेता है। उसमें विष है, वह कर्ता के जीवन को विषाक्त कर देता है। पर यदि निष्कामता के रसायन से युक्त हो कर्म किया जाय, तो फिर कर्म से लगनेवाला बन्धन स्खलित हो जाता है, उसका विष मर जाता है। पारे में विष है। यदि मनुष्य पारा ले ले, तो वह मर जायगा। पर पारे में जीवनदायी अमृत भी छिपा है। वैद्य पारे के विष को मारकर जिस प्रकार उसके अमृतत्व को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार कर्मयोग के रसायन से कर्म का विष सोख लिया जाता है और तब कर्म 'निष्कर्म' बन जाता है। वह रसायन है निष्कामता, यानी कर्म से कामना को निकाल देना।

व्यक्ति केवल चार प्रकार की अवस्थाओं में ही रह सकता है :--

(१) उसमें कर्तापन भी है और कामना भी। यदि कामना बुरी होगी, तो वह पतित होगा, अपने लक्ष्य से

दूर चला जायगा। पर यदि कामना अच्छी होगी, तो उससे वह पुण्य आदि प्राप्त करेगा और उसके जीवन में सुख की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(२) उसमें कर्तापन तो है, पर कामना नहीं है। ऐसा व्यक्ति कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करता है, कर्म का फल अपने लिए नहीं लेता। वह समाज, देश और मानवता के हित के लिए कार्य करता है। उसमें दूसरों के हित की कामना तो है, पर स्वार्थ की कोई कामना नहीं है। ऐसी दशा में वह पुण्य कर्म ही करता है, पर ऐसे पुण्य कर्म उसमें आकर चिपक जाते हैं, क्योंकि जहाँ भी कर्तापन का भाव है, कर्म वहाँ आकर चिपकेंगे ही।

(३) उसमें कामना तो है, पर बाहर से वह कोई काम नहीं करता। ऐसे व्यक्ति को गीता ने मिथ्याचारी कहा है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

(४) उसमें कामना भी नहीं है और कर्तापन भी नहीं। एक तो यह मूढ़ की स्थिति हो सकती है या फिर समाधिवान् पुरुष की। मूढ़ में भी कोई कामना नहीं होती। पागल में कर्तापन का भान नहीं होता। जड़-पत्थर भी कामना और कर्तापन के भाव से शून्य होते हैं। तो क्या यह जड़त्व या मूढ़त्व की स्थिति है? नहीं, यह समाधि-दशा का वर्णन है। पर जिस समय पुरुष समाधि से उतरकर व्युत्थान की दशा में रहता है, तब उसमें कामनाएँ दिखती हैं और कर्तापन का भाव भी दिखायी देता है। पर ऐसे पुरुष में कामना और

कर्तापन का दिखना जल के दाग के समान है--अभी तो दिख रहा है, फिर दूसरे ही क्षण गायब।

इन चार प्रकार की अवस्थाओं में जो चौथी अवस्था है, उसे गीता ने निष्काम कर्म कहकर पुकारा है। इस पर कहा जा सकता है कि ऊपर में जिस दूसरे प्रकार की अवस्थाका वर्णन हुआ, जिसमें कर्तापन तो है पर कामना नहीं है, क्या गीतोक्त निष्काम कर्म की ही अवस्था नहीं है? उत्तर में कहना पड़ता है कि दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। गीतोक्त निष्काम कर्म में कर्तापन को भी तिरोहित करने की चेष्टा की जाती है। पर उपर्युक्त दूसरे प्रकार में कर्तापन बना हुआ है। उसे हम नैतिक जीवन कह सकते हैं, जबकि गीतोक्त निष्कार्म कर्म को आध्यात्मिक जीवन की संज्ञा दी जा सकती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नीतिमान व्यक्ति थे। उन्होंने सदैव दूसरों के लिए कर्म किया, स्वार्थपरता से ऊपर उठे हुए महापुरुष थे, पर उनके जीवन में कर्तापन विद्यमान था। निष्काम कर्मयोग इस कर्तापन को भी तिरोहित करने की सीख देता है। पर हाँ, ज्ञानी और योगी इन दोनों के निष्काम कर्मयोग का तरीका अलग अलग होता है। दोनों ही फल की कामना नहीं रखते। ज्ञानी अपने कर्तापन को ज्ञानयोग के अभ्यास के द्वारा दूर करने की चेष्टा करता है। वह मानता है कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'--त्रिगुण ही त्रिगुण में बरत रहे हैं। जब वह शरीर से कोई कर्म करता है, तो यही सोचता है कि गुण गुणों में खेल रहे

हैं। इस प्रकार वह कर्तापन की बुद्धि से ऊपर उठाने की कोशिश करता है। योगी अपने कर्तापन को ईश्वर के चरणों में सौंपता है। इसलिए दोनों को नैष्कर्म्य की जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमें मात्र रूपगत अन्तर होता है। ज्ञानी के जीवन में कर्म का अभाव दिखता है, जबकि योगी के जीवन में कर्म का प्राबल्य। पर दोनों में ही कर्तापन और कामना का अभाव होता है, यह दोनों में स्वरूपगत समानता है।

अर्जुन को गलतफहमी हो गयी थी कि स्थितप्रज्ञता कर्म के न प्रारम्भ करने से ही मिल जायगी और कर्मों का संन्यास कर देने से ही सिद्धि हासिल हो जायगी। यदि स्थितप्रज्ञता इतनी सहज होती, तब तो एक आलसी और जड़ भी स्थितप्रज्ञ हो जाता और कर्मों को छोड़कर दो पैसे के गेरुए से कपड़ा रँगकर भिक्षा माँगनेवाला भी सिद्धि का अधिकारी बन जाता। पर यह नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि नैष्कर्म्य या सिद्धि का सम्बन्ध मात्र कर्मत्याग से नहीं है, बल्कि वह ज्ञान पर आधारित है। भगवान् श्रीरामकृष्ण ज्ञानी और योगी का लक्ष्य-सिद्धि की दृष्टि से अन्तर बतलाते हुए एक उदाहरण देते हैं। कुआँ खोदा जा रहा है कि पानी लग गया। जमीन के नीचे से जल की धारा फूट पड़ी। अब कुछ लोग हैं, जो कुदाल-सब्बल आदि को कुएँ से बाहर नहीं निकालते, वहीं छोड़ देते हैं--यह सोचकर कि उनका काम तो अब हो गया। पर दूसरे कुछ हैं, जो वह सब औजार कुएँ से

बाहर निकाल लेते हैं--यह सोचकर कि उनका दूसरों के लिए, दूसरा कुआँ खोदने के लिए उपयोग किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के लोग यदि ज्ञानी हैं, तो दूसरे प्रकार के लोग योगी। भगवान् कृष्ण अर्जुन को योगी बनने का आह्वान देते हैं।

तो, विवेच्य श्लोक का अर्थ यह निकला कि नैष्कर्म्य की अवस्था प्राप्त करने के लिए कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो, कर्तापन और भोक्तापन का त्याग करो--यदि ज्ञानयोगी हो, तो विवेक के द्वारा और यदि कर्मयोगी हो, तो समर्पण के द्वारा। कर्म को झंझट मानकर बीच में ही मत छोड़ दो। कपड़े को गेरू से रँग लेने मात्र से सिद्धि नहीं मिलती है। कारण यह है कि कर्म ऐसे नहीं हैं कि छोड़ देने से छूट जाते हों। कर्म कपड़े के समान नहीं हैं कि निकालकर फेंक दिया और उनसे मुक्त हो गये। कर्मों से भला कौन मुक्त हो सका है? कोई यदि कर्म को छोड़ना भी चाहे, तो कर्म उसे नहीं छोड़ता। प्रसिद्ध कथा आती है कि गुरु और चेला नदी के किनारे खड़े थे कि इतने में दोनों ने देखा, नदी के प्रवाह के साथ एक कम्बल बहता चला आ रहा है। गुरु ने चेले से कहा--"देखो बेटा, वह कम्बल निकाल लाओ, तो काम में आए।" चेला पानी में कूद पड़ा और तैरकर कम्बल के पास जा पहुँचा। उसने उसे पकड़कर खींचने की कोशिश की, तो स्वयं कम्बल की चपेट में आ गया और उसी के साथ बहने लगा। गुरुजी

ने जोर से पुकारा--"बेटा, कम्बल को लेकर लौट आओ, तुम तो उसी के साथ बहे जा रहे हो।" चेले ने कहा--"गुरुजी, कैसे लाऊँ, यह तो आ नहीं रहा है।" "तो तुम उसे छोड़ दो और आ जाओ, नहीं तो तुम बह जाओगे," गुरुजी चिल्लाये। "महाराज, मैंने तो कम्बल को छोड़ दिया है, पर कम्बल मुझे नहीं छोड़ रहा है!" चेला बोला। कम्बल और कुछ नहीं, एक भालू था, जिसे भूल से गुरु और चेले ने कम्बल समझ लिया था। तो, यह कर्म भी वैसा ही एक कम्बल है। एक बार हमने उसे पकड़ा कि वह हमें जकड़ लेता है। फिर हम कितना ही उससे छूटने का प्रयास करें, वह हमें नहीं छोड़ता।

प्रश्न उठता है कि कर्म हमें क्यों जकड़ लेता है? उत्तर दिया जाता है कि यह जकड़ना कर्म का स्वभाव है। कर्म के इसी स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं--

> **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
> **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।**

जातु (कभी) कश्चित् (कोई) क्षणं (क्षण भर) अपि (भी) अकर्मकृत् (कर्म बिना किये) न हि तिष्ठति (नहीं ही रह सकता) हि (क्योंकि) प्रकृतिजैः (प्रकृति से उत्पन्न) गुणैः (गुणों के द्वारा) अवशः (विवश होकर) सर्वः (सभी लोग) कर्म (कर्म) कार्यंते (करते हैं)।

"कभी कोई क्षण भर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुण सबको विवश करके उससे कर्म कराते रहते हैं।"

कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो कर्म को छोड़कर एक क्षण के लिए भी रह सके। जब तक यह शरीर है, तब तक चलना-फिरना, सोना-बैठना, खाना-पीना इत्यादि कर्म कभी रुक नहीं सकते। बोलना भी कर्म है। स्वप्न तो कर्म है ही, गाढ़ी नींद की स्थिति भी कर्म है। भले ही हमें लगे कि हम तो चुपचाप सो रहे हैं, पर हमारे मन का एक भाग सतत जगा हुआ है, जो बाद में स्मृति के रूप में प्रकट होता है और व्यक्ति से कहलाता है कि मैं आज सुख की नींद सोया था। फिर, उस समय हमारा हृदय धड़कता रहता है, यकृत भोजन को पचाता रहता है। सारांश यह कि सुषुप्ति की अवस्था में भी कर्म होते रहते हैं। यदि मैं आसन लगाकर चुप बैठ जाऊँ और सोचूँ कि मैं कर्म नहीं करूँगा, तो भला कितनी देर मैं उस प्रकार बैठे रह सकता हूँ? फिर उस चुप्पी की स्थिति में क्या मेरा मनोयंत्र भी चुप रहता है? नहीं, वह तो संकल्प-विकल्प के जाने कितने खेल खेलता रहता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम के तीन गुण सतत विचलनशील होने के कारण तथा सारा जगत् इन्हीं तीनों गुणों से निर्मित होने के कारण सर्वत्र विक्रिया और परिवर्तन देखे जाते हैं। मनुष्य का शरीर और मन भी इन्हीं तीन गुणों से निर्मित है, इसलिए वहाँ भी नित्य विचलन देखा जाता है। ऐसी स्थिति में मनष्य यदि सोचे कि वह बिना कर्म किये रह लेगा, तो बड़ी भूल है।

मेरा एक परिचित था। अच्छी नौकरी करता था। अचानक कोई घरेलू समस्या उसके समक्ष आ गयी। वह बेचैन रहने लगा। वह मुझसे सलाह लेने के लिए आया। उसकी इच्छा थी कि संसार के झमेले से बचने के लिए वह हिमालय में कहीं चला जाय और अपना जीवन वहीं ध्यान-धारणादि में काट दे। मैंने उसे समझाया, कहा, तुम इतने कर्मठ हो, यहाँ हरदम व्यस्त रहते हो, कहाँ जगल जाओगे? बल्कि यदि साधना करनी हो, तो यहीं रहकर करो, वहाँ जाने पर तो साधना के नाम पर विशेष कुछ कर नहीं पाओगे। पर वह नहीं माना। वह नौकरी छोड़-छाड़कर ऋषिकेश चला गया और वहाँ कहीं से उसने संन्यास भी ले लिया। टिहरी-गढ़वाल में गंगा के किनारे उसने एक कुटिया भी बना ली। पर उसके भीतर की कर्मठता कहाँ जाती? बीच बीच में वह अपने क्षेत्र में आता और संन्यासी के नाते लोगों से सम्मान पाता। धीरे धीरे उसके मन में लोकैषणा प्रवल होती गयी और उसने कहना शुरू किया--बिना राजनीति में आये देश को नहीं उठाया जा सकता। धर्म एवं अध्यात्म का रास्ता बहुत लम्बा है और साथ ही बहुत दूर का भी। फल यह हुआ कि वह चुनाव में खड़ा हुआ, हारा और अभी फिर हिमालय में संसार के झमेलों से अपने को बचाने चला गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना बताना है कि मनुष्य का मन उसके साथ छल करता है कि वह कर्मों को यदि छोड़ दे, तो कर्म छूट जाएँगे। कर्म छूटते

नहीं। प्रकृति से उत्पन्न ये गुण किसी को भी नहीं बख्शते —'सर्वः अवशः कर्म कार्यते', सभी से बलपूर्वक कर्म कराते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञानी भी, स्थितप्रज्ञ भी गुणों से विचलित होता है? नहीं, वह नहीं होता। उसके सम्बन्ध में गीता में ही अन्यत्र (१४/२३) कहा है—

> उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
> गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते॥

—वह (कर्मफल के सम्बन्ध में) उदासीन-सा रहता है, गुण उसे चल-विचल नहीं कर पाते; वह ऐसा समझकर स्थिर रहता है कि गुण अपना अपना काम कर रहे हैं, वह अपने (समाधिरूप) लक्ष्य से कभी डिगता नहीं। पर साथ ही यह भी सत्य है कि ज्ञानी में भी, व्युत्थान की दशा में, कर्म देखे जाते हैं, किन्तु हाँ, वहाँ कर्तापन और भोक्तापन का अभाव होने के कारण कर्म उसे विचलित नहीं कर पाते।

मतलब यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी सभी को कर्म करना पड़ता है, पर ज्ञानी और योगी कर्म से नहीं बँधते। ज्ञानी अपने साक्षीभाव के कारण कर्मबन्धन से मुक्त रहता है और योगी अपने समर्पण-भाव के कारण। जब हमें कर्म से छुटकारा मिल ही नहीं सकता, तब हम उससे दूर भागने की चेष्टा क्यों करें? यदि हम बल-पूर्वक अपनी कर्मेन्द्रियों को रोकने की चेष्टा करें, तो उससे हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तो रुकेंगी नहीं। हमारे हाथ-

पैर आदि अंग भले न चलें, पर आँखें तो देखेंगी ही, कान तो शब्द सुनेंगे ही, नाक से हमें गन्ध का ज्ञान होगा ही। यदि हम कहें कि आँखों से हम रूप न देखेंगे, इसलिए उन्हें बन्द कर लें, तो उत्तेजना कान के माध्यम से आएगी। जिस व्यक्ति का रूप हमें उत्तेजित कर देता है, उसकी ध्वनि भी तो हमें उत्तेजित कर देती है। हम कहें कि हम कान को बन्द कर देंगे, तो नाक तो है ही। नाक में उस परिचित गन्ध के आते ही उत्तेजना फैल जाती है। हम कहें कि हम प्राणायाम के द्वारा नाक को बन्द कर देंगे, तो व्यक्ति का स्पर्श है, उससे कैसे बचेंगे? हम यदि कहें कि अपने को ताले में बन्द कर लेंगे, तो मन को उस परिचित व्यक्ति के पास जाने से कैसे रोक सकते हैं? उसके लिए कौनसा ताला लगाएँगे? मतलब यह कि यदि हमारे मन में वासना विद्यमान है, तो इस प्रकार बलपूर्वक कर्मेन्द्रियों का नियमन किसी काम का न होगा, हम ऊपर से तो अपने को संयमी प्रदर्शित करेंगे, पर मन ही मन इन्द्रिय-भोगों का रस लेते रहेंगे। यह साधक के लिए अत्यन्त खतरे की बात है। ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान् कृष्ण कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

यः (जो) कर्मेन्द्रियाणि (हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को) संयम्य (संयत करके) मनसा (मन के द्वारा) इन्द्रियार्थान् (इन्द्रियों के [शब्दस्पर्शादि] विषयों का) स्मरन् (स्मरण करते

हुए) आस्ते (रहता है) सः (वह) विमूढात्मा (अज्ञानी व्यक्ति) मिथ्याचारः (मिथ्याचारी) उच्यते (कहाता है)।

"जो (हाथ-पैर आदि) कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मूढ़ व्यक्ति मिथ्याचारी कहलाता है।"

ऐसा मिथ्याचारी व्यक्ति दूसरों को तो ठगता ही है, वह स्वयं को भी ठगता है। श्रीरामकृष्णदेव इसे मन और मुख का भेद कहते हैं। इनके अनुसार, साधक को सर्वप्रथम मन और मुख एक करने की चेष्टा करनी चाहिए, अर्थात् उसे मिथ्याचारी होने से बचना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए यह आगे के श्लोकों में प्रदर्शित हुआ है।

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन

विश्व सम्मेलन –१९८०

(एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन)

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का ऐतिहासिक द्वितीय विश्व-सम्मेलन बेलुड़ मठ (कलकत्ता) के प्रांगण में २३ दिसम्बर से लेकर २९ दिसम्बर तक अत्यन्त उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। लगभग छह महीने से इस सम्मेलन की तैयारियाँ की जा रही थीं। प्रथम विश्व-सम्मेलन १९२६ में हुआ था। इस बीच संघ की गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसलिए रामकृष्ण

संघ के पदाधिकारियों ने संघ के कार्यकलापों का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए तथा भक्तों एवं मित्रों के साथ सम्पर्क और सम्बन्ध को अधिक दृढ़ बनाने के लिए इस दूसरे विश्व सम्मेलन की समायोजना की। इस सम्मेलन के लिए बारह हजार से भी अधिक लोग प्रतिनिधि बने, जिनमें लगभग पाँच हजार लोग बाहर से आये थे। इनमें लगभग साढ़े तीन हजार प्रतिनिधियों के आवास और भोजन की व्यवस्था सम्मेलन-समिति ने की थी। इस हेतु बेलुड़, बाली, लिलुआ और सालकिया मुहल्लों के विद्यालय एवं छात्रावास भवनों तथा धर्मशालाओं को सम्मेलन-समिति ने प्रतिनिधियों के आवास के लिए सुरक्षित करा लिया था और सम्मेलन में इन स्थानों से प्रतिनिधियों के आने-जाने के लिए बस की अच्छी व्यवस्था रखी थी। कलकत्ता और दक्षिणेश्वर आदि स्थानों से सम्मेलन-स्थल पर आने-जाने के लिए लांच की भी व्यवस्था थी। सम्मेलन के लिए श्रीरामकृष्ण-मन्दिर और गंगातट के बीच के मैदान में विशाल मण्डप खड़ा किया गया था, जिसमें लगभग १०,००० कुर्सियों की व्यवस्था थी। मण्डप के उत्तरी छोर पर विशाल सभामंच बनाया गया था। मण्डप और मंच को बड़े ही शोभन रूप से सजाया गया था। मठ के प्रमुख द्वार से प्रवेश करने पर लगभग १५० मीटर चलने पर दाहिनी ओर स्वागत-कक्ष और पूछताछ-कक्ष थे, जहाँ लगभग २० काउंटरों से प्रतिनिधियों तथा जरूरतमन्द लोगों को आवश्यक जानकारी प्रदान की जाती थी। ये काउंटर प्रतिदिन सुबह ५ बजे से लेकर रात को १२ बजे तक खुले रहते थे। फिर, एक घोषणा-कक्ष भी अलग से बनाया गया था, जहाँ से आवश्यक सूचनाओं की घोषणा की व्यवस्था थी। यह कक्ष भी सुबह ६ बजे से रात ११ बजे तक काम करता रहता था। घोषणा-कक्ष से की जानेवाली घोषणा लाउडस्पीकर द्वारा बेलुड़ मठ के विशाल प्रांगण के कोने कोने तक सुनायी देती थी। भोजनशाला में भी घोषणा की आवाज को पहुँचाने की व्यवस्था

थी, जिससे भोजन में बैठे प्रतिनिधिगण भी सूचनाएँ सुन सकें। मन्दिर के पीछे, मठ के प्रमुख भवन के सामने पूर्वी और पश्चिमी प्रांगणों में विशाल मण्डप खड़े किये गये थे, जिनमें क्रमश: पुरुष और महिला प्रतिनिधियों के भोजन की व्यवस्था था। मठ के प्रमुख भवन के भीतर पूर्वी प्रांगण में संन्यासियों और ब्रह्मचारियों के भोजन के लिए मण्डप बनाये गये थे। इन सब भोजन-मण्डपों में एक साथ लगभग २,३०० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था थी। जिस कुशलता के साथ भोजन परोसने की व्यवस्था थी, वह देखने योग्य थी, उसका वर्णन करना कठिन है। लगभग ६,००० लोगों का भोजन अत्यन्त शान्तिपूर्वक डेढ़ घण्टे में हो जाता था। सभी लोगों ने भोजन की भी भूरि भूरि प्रशंसा की।

२३ दिसम्बर को प्रात: पौने नौ बजे तक सम्मेलन का समूचा विशाल मण्डप खचाखच भर गया। स्थानाभाव के कारण लगभग तीन हजार प्रतिनिधि और अतिथि सभामण्डप के बाहर खड़े थे। इस प्रकार प्रथम दिन तेरह हजार से भी अधिक प्रतिनिधि और अतिथिगण उद्घाटन-कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। मंच पर पीछे श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के विशाल तैलचित्र सजे हुए थे। सामने बीच में रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी शोभायमान थे। नब्बे वर्ष की उम्र में भी उनकी सक्रियता और सजगता सराहनीय थी। उनके दोनों ओर कुर्सियों की पंक्ति थी और इन कुर्सियों के सामने मेज की। इन कुर्सियों में पूज्यपाद वीरेश्वरानन्दजी के बायीं ओर बैठे थे-- स्वामी लोकेश्वरानन्द (सम्मेलन-समिति के सचिव); स्वामी वन्दनानन्द (रामकृष्ण संघ के सचिव), स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी अभयानन्द और स्वामी तपस्यानन्द; तथा उनके दाहिनी ओर आसीन थे--स्वामी हिरण्मयानन्द (सम्मेलन-समिति के अध्यक्ष), स्वामी गहनानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी भूतेशानन्द एवं

स्वामी आदिदेवानन्द। इनके पीछे की पंक्तियों मे सम्मेलन-समिति के अन्य पदाधिकारी, सदस्य तथा वक्तागण विराजमान थे।

ठीक सवा नौ बजे वैदिक प्रार्थना से सम्मेलन का शुभारम्भ हुआ। मगल गीत और स्वामी विवेकानन्द की कुछ चुनी हुई सूक्तियों के पाठ के बाद सम्मेलन-समिति के अध्यक्ष स्वामी हिरण्मयानन्द ने स्वागत-भाषण दिया। तत्पश्चात् रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के जनरल सेक्रेटरी स्वामी वन्दनानन्द ने उपस्थित विशाल प्रतिनिधिसमूह को सम्बोधित किया। तदनन्तर रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष पूज्यपाद वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने उद्घाटन-भाषण देते हुए इस ऐतिहासिक द्वितीय विश्व-सम्मेलन का औपचारिक उद्घाटन सम्पन्न किया। इसके बाद उनके इस अँगरेजी भाषण के हिन्दी, बँगला, तमिल और कन्नड अनुवाद क्रमशः स्वामी आत्मानन्द (रायपुर), स्वामी प्रभानन्द (पुरुलिया); स्वामी सर्वज्ञानन्द (नटरमपल्ली) तथा स्वामी सोमनाथानन्द (मैसूर) द्वारा प्रस्तुत किये गये। (वीरेश्वरानन्दजी के उद्घाटन-भाषण का हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जा रहा है।) तत्पश्चात् वीरेश्वरानन्दजी ने सम्मेलन के उपलक्ष में प्रकाशित 'स्मारिका' तथा Rebuild India नामक पुस्तिका का विमोचन किया। आभार-प्रदर्शन, घोषणाओं और समापन गीत के पश्चात् प्रातःकालीन सत्र समाप्त घोषित हुआ।

२३ दिसम्बर का अपराह्न-सत्र ३ बजे प्रारम्भ हुआ। चर्चा का विषय था—'रामकृष्ण भाव-आन्दोलन'। रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी गम्भीरानन्द ने इस सत्र की अध्यक्षता की। दिल्ली-स्थित रामकृष्ण मिशन के प्रमुख स्वामी बुधानन्द ने मुख्य भाषण प्रस्तुत किया। तदनन्तर सर्वश्री टी.एस. अविनाशीलिंगम (कोयम्बतूर), सुश्री इन्दिरा पटेल (बड़ौदा), न्यायमूर्ति एस. सी. घोष (पश्चिम बंगाल), के.पी. गणपति (जमशेदपुर), प्रो० सी. एस. रामकृष्णन (मद्रास), न्यायमूर्ति के.एल. पाण्डेय (जबलपुर),

श्रीमती लक्ष्मी मेनन (त्रिवेन्द्रम) तथा प्रव्राजिका श्रद्धाप्राणा (उपसचिव, सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता) के भाषण हुए। तत्पश्चात् अध्यक्ष महोदय का अध्यक्षीय भाषण हुआ।

२४ दिसम्बर का प्रात:कालीन सत्र ९ बजे से प्रारम्भ हुआ। इसमें विचार का विषय था--'रामकृष्ण संघ'। रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द इस सत्र के अध्यक्ष थे। सम्मेलन-समिति के अध्यक्ष स्वामी हिरण्मयानन्द ने मुख्य भाषण प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् स्वामी असक्तानन्द (नरेन्द्रपुर), श्री वांग्फा लोवांग (अरुणाचल), स्वामी नित्यबोधानन्द (जिनेवा), श्री टी. एल. राजकुमार (अरुणाचल), डा० सच्चिदानन्द धर (पश्चिम बंगाल) तथा श्री एस. के. शिवरामन (मद्रास) ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये। इसके बाद स्वामी भूतेशानन्द ने अध्यक्षीय भाषण प्रदान किया।

अपराह्न के सत्र में चर्चा का विषय था—'व्यावहारिक वेदान्त', जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण मठ, मद्रास के अध्यक्ष स्वामी तपस्यानन्द ने की। हैदराबाद स्थित रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द ने मुख्य भाषण दिया। तत्पश्चात् प्रो० (श्रीमती) महाश्वेता चौधरी (कलकत्ता), श्रीमती अनसूया सुब्रमनियम (मद्रास), कु० मालती बोलर (दिल्ली), स्वामी अनन्यानन्द (मायावती), श्री बी. आर. वेणुगोपाल (ऊटी), श्री गिरिधारी प्रसाद (मद्रास), श्री के. वी नागेश्वर राव (हैदराबाद), श्री एस सुन्दरस्वामी (बँगलोर) तथा डा० तापस शंकर दत्त (सिलचर) के भाषण हुए। इसके बाद स्वामी तपस्यानन्द ने अध्यक्षीय भाषण प्रदान किया।

२५ दिसम्बर की सुबह बाहर से आनेवाले प्रतिनिधियों के लिए दक्षिणेश्वर, काशीपुर, उद्बोधन आदि स्थानों की यात्रा की व्यवस्था की गयी थी। इस हेतु लगभग चालीस बसें आरक्षित की गयी थीं। अपराह्न का सत्र नेताजी इनडोर स्टेडियम, कलकत्ता

में आयोजित किया गया था। स्टेडियम को बहुत ही आकर्षक ढंग से सजाया गया था। वहाँ की लगभग १२,५०० सीटें खचाखच भरी हुई थीं और लगभग २,५०० श्रोता नीचे सुन्दर कालीन पर बैठे हुए थे। खेल का मैदान एक विराट् ध्यान-मण्डप में परिणत हो गया था। ठीक ३ बजे मंगल गीत प्रारम्भ हुआ। चर्चा का विषय था—'श्रीरामकृष्ण का सन्देश'। रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी गम्भीरानन्द इस सत्र की अध्यक्षता कर रहे थे। मंगल गीत के पश्चात् स्वामी रंगनाथानन्द (हैदराबाद), डा० ए. सी. दासगुप्ता (वृन्दावन), प्रो० आर. के. दासगुप्ता (कलकत्ता), सिस्टर गार्गी (मेरी लुई बर्क, अमेरिका), श्री तेजभान नागपाल (इलाहाबाद), न्यायमूर्ति श्रीमती पद्मा खास्तगीर (कलकत्ता) तथा डा० कर्णसिंह (संसद सदस्य, दिल्ली) के भाषण हुए। तदनन्तर स्वामी गम्भीरानन्द ने अध्यक्षीय भाषण प्रदान किया।

२६ दिसम्बर का प्रातःकालीन सत्र ९ बजे बेलुड़ मठ के प्रांगण में प्रारम्भ हुआ। विचार का विषय था—'भारत में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की गतिविधियाँ'। रामकृष्ण संघ के सहसचिव स्वामी गहनानन्द अध्यक्ष-पद पर विराजमान थे। रामकृष्ण संघ के कोषाध्यक्ष स्वामी गीतानन्द के मुख्य भाषण के उपरान्त श्री जी. के. सेठ (इन्दौर), श्री शिवशंकर चक्रवर्ती (नरेन्द्रपुर), स्वामी आत्मानन्द (रायपुर), श्री एन. एम. कृष्णन (ऊटी), डा० सी. पी. कामथ (मँगलौर), प्रो० कपिल चटर्जी (शिलांग) तथा स्वामी गणानन्द (कालडी) ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये। अध्यक्षीय भाषण के उपरान्त कार्यक्रम आभार-प्रदर्शनादि के बाद समाप्त घोषित हुआ।

अपराह्न-सत्र ३ बजे से पुनः नेताजी इनडोर स्टेडियम कलकत्ता में आयोजित था। इस दिन भी लगभग १५,००० श्रोता मुग्ध चित्त से 'अन्तर-धर्म सद्भाव' पर स्वामी शास्त्रानन्द (चण्डीगढ़), रे० माइकेल वेस्टाल, डा० एम. ए. वर्ली, श्री के. सी.

लालवानी, भिक्खु राहुल, श्री रोबिन ट्वाइट, कैप्टन भाग सिंह तथा बहराम आर. वकील को क्रमश: हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, जैन, बौद्ध, यहूदी, सिख एवं जरथुस्त्र धर्म पर सुन रहे थे। इस अवसर पर श्री ए. एन. रे ने भी 'रामकृष्ण और धर्म-समन्वय' पर अपने विचार प्रकट किये। तत्पश्चात् सम्मेलन-समिति के सचिव स्वामी लोकेश्वरानन्द ने अध्यक्ष-पद से उपस्थित श्रोतृ-समुदाय को सम्बोधित किया।

२७ दिसम्बर का प्रात:कालीन सत्र ९ बजे बेलुड़ मठ प्रांगण में शुरू हुआ। चर्चा का विषय था—'भारत के बाहर हमारा कार्य'। इस सत्र की अध्यक्षता स्वामी स्वाहानन्द (हालीवुड) ने की। इस अवसर पर स्वामी भव्यानन्द (लन्दन), स्वामी भास्करानन्द (सियेटल), स्वामी प्रबुद्धानन्द (सैन फ्रांसिस्को), स्वामी नित्यबोधानन्द (जिनेवा), स्वामी रुद्रानन्द (फिजी), सिस्टर गार्गी (अमेरिका), स्वामी अक्षरानन्द (ढाका), स्वामी अमृतत्वानन्द (दिनाजपुर, बांग्ला देश) तथा श्री एरिक जोन्स (अमेरिका) ने अपने अपने विचार व्यक्त किये। तत्पश्चात् स्वामी स्वाहानन्द द्वारा अध्यक्षीय भाषण प्रदत्त हुआ।

अपराह्न-सत्र में विचार का विषय था—'रामकृष्ण संघ के समक्ष समस्याएँ'। इसकी अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के जनरल सेक्रेटरी स्वामी वन्दनानन्द ने की। संघ के असिस्टैंट सेक्रेटरी स्वामी आत्मस्थानन्द ने मुख्य भाषण प्रदान किया। तत्पश्चात् प्रोफेसर डी. एन. बोस (कलकत्ता), श्री ए. के. बनर्जी (राँची), प्रो० प्रणव आर. घोष, (कलकत्ता), प्रो० रथीन्द्रमोहन चौधुरी (बाँकुड़ा), श्री एस. शंकर (बँगलौर), प्रो० एस. मधुमंगल शर्मा (मणिपुर), श्री. एस. एम. गौरीशंकर (मद्रास) तथा श्री एम. एन. के. नायर (केरल) के भाषण हुए। उसके अनन्तर स्वामी वन्दनानन्द ने अध्यक्षीय भाषण प्रदान किया।

२८ दिसम्बर को श्री माँ सारदा देवी की शुभ जन्मतिथि थी। इस दिन बाहर से आये हुए प्रतिनिधियों के लिए जयरामवाटी (माँ का जन्मस्थान) और कामारपुकुर (श्रीरामकृष्ण का जन्मस्थान) की यात्रा आयोजित की गयी थी। ४७ बसें इस कार्य के लिए आरक्षित की गयी थीं। इतनी बसों का एक साथ जयरामवाटी और कामारपुकुर जाने का दृश्य भी अपूर्व था। भक्तों ने जयरामवाटी में माँ के मन्दिर में दर्शन किये तथा हाथ हाथ में प्रसाद ग्रहण किया। कामारपुकुर में श्रीरामकृष्ण-मन्दिर में दर्शन करने के उपरान्त बैठकर प्रसाद पाया। भक्तों के हृदय में आनन्द और उल्लास की अनुभूति करानेवाली यह यात्रा उनके लिए चिरस्मरणीय बनी रहेगी।

यद्यपि विश्व सम्मेलन की ओर से २८ दिसम्बर को बेलुड़ मठ में अन्य कोई कार्यक्रम नहीं था, तथापि मठ के तत्त्वावधान में श्री माँ सारदा देवी की जन्मतिथि के उपलक्ष में वहाँ सुबह ४।। बजे से श्रीरामकृष्ण-मन्दिर में मंगलारती से उस दिन का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। अपराह्न में मन्दिर के पश्चिमी प्रांगण में जन्मतिथि के उपलक्ष में सार्वजनिक सभा आयोजित की गयी थी, जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द ने की। इस अवसर पर स्वामी बुधानन्द (दिल्ली), स्वामी लोकेश्वरानन्द (इंस्टीटयूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता) तथा स्वामी आत्मानन्द (रायपुर) ने क्रमशः अँगरेजी, बँगला एवं हिन्दी भाषा में श्री माँ के जीवन और सन्देश पर प्रकाश डाला। लगभग दस हजार लोगों ने इस सभा में श्रोता के रूप से भाग लिया।

२९ दिसम्बर सम्मेलन का अन्तिम दिवस था। प्रात:कालीन सत्र स्वामी हिरण्मयानन्द की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर स्वामी प्रभानन्द (पुरुलिया) ने मुख्य भाषण दिया। चर्चा का विषय था––'भक्तों और मित्रों की भूमिका'। अन्य

वक्ताओं में थे प्रो० शंकरीप्रसाद बोस (कलकत्ता), सिस्टर कल्याणी (सेवा प्रतिष्ठान, कलकत्ता), डा० कमल नन्दी (शिलांग), श्री अशोक बनर्जी, प्रो० ज्ञानेन्द्र चन्द्र दत्त; डा० अनिल देसाई (राजकोट), न्यायमूर्ति श्री जी. एन. राय (कलकत्ता), डा० सी. ए. मेहता (बम्बई), श्री आर. एन. दत्तगुप्ता (बांग्ला देश पीस फाउंडेशन), डा० शशांक भूषण बन्द्योपाध्याय (विवेकानन्द सोसायटी, कलकत्ता), श्री रामेश्वर सरकार (कलकत्ता) तथा श्री के. के. चक्रवर्ती (आय ए. एस, डिपुटी सेक्रेटरी, भोपाल)। इसके पश्चात् स्वामी हिरण्मयानन्द का अध्यक्षीय भाषण हुआ।

२९ दिसम्बर का अपराह्न-सत्र सम्मेलन का अन्तिम सत्र था। इसकी अध्यक्षता पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने की। विदाई भाषण देनेवालों में थे—स्वामी वन्दनानन्द, प्रो० एलन आर. फ्रीडमैन (अमेरिका), स्वामी लोकेश्वरानन्द, स्वामी स्मरणानन्द सारदापीठ, बेलुड़ मठ) तथा श्री व्ही. एन. शर्मा (राजमहेन्द्री)। तत्पश्चात् अध्यक्ष महाराज ने अपने अध्यक्षीय भाषण में लगभग १३,००० प्रतिनिधियों और अतिथियों को सम्बोधित करते हुए चार बातों पर विशेष बल दिया :— (१) श्रीरामकृष्णदेव का सन्देश केवल अपूर्व ही नहीं है अपितु उसमें एक नये युग के निर्माण की क्षमता है। वह मात्र भारत के लिए नहीं, वरन् सारे संसार के लिए है। (२) हमारा समाज आज अनेकविध दोषों से आक्रान्त है। वह अस्पृश्यता एवं इसी प्रकार के अन्य रोगों से त्रस्त है। उसे स्वस्थ बनाने के लिए नारीशक्ति विशेष कारगर हो सकती है। हमारे यहाँ अकथनीय दारिद्र्य है। सम्पन्न लोग एक-दो अनाथ बच्चों को अपने यहाँ पालकर बड़ा कर सकते हैं। (३) भारत गाँवों में बसता है। आज बहुतेरे गाँवों में चिकित्सा एवं पेय-जल की व्यवस्था का अभाव है। श्रीरामकृष्ण के अनुयायी ऐसे एक एक गाँव को लेकर वहाँ स्वास्थ्य सम्बन्धी निर्देश दे सकते हैं, तथा कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार

कर सकते हैं। (४) लोग पूछते हैं कि अगला विश्व-सम्मेलन कब होगा ? उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा सम्मेलन फिर से अवश्य आयोजित होगा, पर कब होगा यह अभी से कहना कठिन है। जब ऐसा लगेगा कि इस सम्मेलन का प्रतिनिधियों पर सही प्रभाव पड़ा है और जब वे सही मायनों में रामकृष्ण-विवेकानन्द के अनुयायी बनकर विवेकानन्द-प्रतिपादित सेवाधर्म को अपने आचरण में उतारने के लिए प्रयत्नशील होंगे, तो पुन: सम्मेलन का आयोजन प्रयोजनीय हो जाएगा। अन्त में अध्यक्ष महाराज ने देश-विदेश से आये हुए प्रतिनिधियों को आशीर्वाद देते हुए कहा कि न केवल तुम लोग निर्विघ्न, सकुशल अपने अपने घर पहुँच जाओ, बल्कि तुम लोग जहाँ भी क्यों न रहो, चाहे पर्वत के शिखर पर, चाहे संसार के किसी भी कोने में, अथवा चाहे समुद्र के तल में, श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द सर्वदा सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेंगे। तत्पश्चात् अध्यक्ष महाराज के अँगरेजी में प्रदत्त इस आशीर्वचन का स्वामी आत्मानन्द ने हिन्दी में सार-संक्षेप प्रस्तुत किया तथा स्वामी निरामयानन्द (बम्बई) ने बँगला में।

स्वामी हिरण्मयानन्द के आभार-प्रदर्शन के पश्चात् समापन गीत के साथ यह ऐतिहासिक द्वितीय विश्व सम्मेलन समाप्त घोषित हुआ।

इस अवसर पर रामकृष्ण मिशन सारदापीठ के आवासीय बी. एड. कालेज में एक प्रदर्शनी भी आयोजित की गयी थी, जिसमें श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों को चित्रों और मूर्तियों के माध्यम से समझाया गया था। साथ ही रामकृष्ण संघ के विभिन्न केन्द्रों की गतिविधियों को छाया-चित्रों की सहायता से मुखरित किया गया था। सब मिलाकर प्रदर्शनी अत्यन्त शिक्षाप्रद और प्रेरणादायी थी।

यह विश्व सम्मेलन कई अर्थों में अद्वितीय रहा। एक ओर जहाँ रामकृष्ण संघ के सम्मुख आसन्न राजनैतिक, आर्थिक और अन्य कठिनाइयों की चर्चा हुई, वहीं दूसरी ओर भक्तों और मित्रों ने प्रतिनिधि-वक्ताओं के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द की सीख के अनुसार, इन कठिनाइयों की परवाह न करते हुए, अपने अपने जीवन को गढ़ने के संकल्प की घोषणा की। इस सम्मेलन का सबसे प्रभावी पक्ष यह था कि उसने विश्व के विभिन्न भागों से आये हुए प्रतिनिधियों के परस्पर स्नेह-बन्धन को दृढ़ किया तथा श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द के नाम पर उन सबके भीतर एक अपूर्व सौहार्द और भ्रातृभाव का संचार किया।

इस द्वितीय सम्मेलन की कार्यवाहियों को पुस्तकाकार में प्रकाशित करने की घोषणा की गयी। इस ग्रन्थ का प्रकाशनपूर्व मूल्य ५०) होगा। जो अपने लिए इस ग्रन्थ की प्रति सुरक्षित कराना चाहते हैं, वे मार्च १९८१ से पूर्व १०) मनीआर्डर द्वारा 'सचिव, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन विश्व-सम्मेलन १९८०, रामकृष्ण मिशन इंस्टीटयूट ऑफ कल्चर, गोल पार्क, कलकत्ता ७००-०२९, के पते पर भेजकर अपना नाम पंजीकृत करा लें। उसी प्रकार जो इस सम्मेलन के उपलक्ष में प्रकाशित 'स्मारिका' की प्रति चाहते हैं, वे २५) और Rebuild India की प्रति के लिए १) का मनीआर्डर, डाकखर्च के ५) अलग से जोड़कर, उपर्युक्त पते पर भेजकर ये प्रतियाँ मँगा सकते हैं।

पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी का उद्घाटन-भाषण

लगभग चौवन वर्ष पहले रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का प्रथम विश्व-सम्मेलन इसी स्थान पर स्वामी शिवानन्दजी महाराज के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ था। स्वामी शिवानन्दजी श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग शिष्यों में अन्यतम थे तथा उस समय राम-

कृष्ण संघ के अध्यक्ष थे। उस विश्व सम्मेलन की स्वागत समिति के सभापति थे स्वामी सारदानन्दजी महाराज। वे भी श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग शिष्यों में थे तथा उस समय रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के सेक्रेटरी थे। सम्मेलन का उद्देश्य था—"सदस्यों का आपस में विचारों का आदान-प्रदान करना, उस आदर्श के प्रति उनकी आस्था को दृढ़ करना, दैनिक जीवन में उसके व्यवहार के लिए एक नव शक्ति का संचार करना तथा परस्पर के बीच सौहार्द और सहयोग के बन्धन को मजबूत करना"। इस सम्मेलन का उद्देश्य और लक्ष्य भी यही है, अर्थात् संघ को इन दिशाओं में सुदृढ़ करना है। मैं 'संघ' शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ। सामान्यतः उसका उपयोग मात्र संन्यासी संघ के लिए किया जाता है, पर यहाँ पर मेरे द्वारा प्रयुक्त शब्द में गृहस्थ भक्तों का भी समावेश है।

जब प्रथम सम्मेलन आयोजित हुआ था, तब हम विदेशी सत्ता के अन्तर्गत थे और समाज में जीवन की अवस्था आज से कुछ भिन्न थी, यद्यपि वह भी कोई स्पृहणीय नहीं थी। अब तो विगत तैंतीस वर्षों से हम एक स्वतंत्र राष्ट्र हैं, पर भले ही कुछ क्षेत्रों में हमारी अवस्था में कुछ सुधार हुआ हो, दुर्भाग्य से कई दिशाओं में हमारी हालत बदतर ही हुई है। देश के प्रत्येक भाग में, सभी समाजों में, नैतिकता और चरित्र की दृष्टि से अवस्था बहुत खराब हुई है। इसे विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आप यह सब अच्छी तरह जानते हैं। एक ईमानदार और सदाचारी व्यक्ति को ऐसे वातावरण में रहना अत्यन्त कठिन हो गया है। वर्तमान परिस्थितियाँ अपरिहार्य-सी प्रतीत होती हैं, क्योंकि जब एक बार किसी सभ्यता में पतन और सड़न की क्रिया शुरू हो जाती है, तो फिर वह रुकती नहीं और हम उसे तब तक मोड़ नहीं पाते, जब तक कि वह दूसरे चरम छोर तक पहुँच नहीं

जाती। और यह केवल भारत ही के लिए नहीं, अपितु आज सारे संसार के लिए सत्य है। यह धर्म की उपेक्षा का तथा उस भौतिकवाद के पीछे दौड़ने का दुष्परिणाम है, जो पश्चिम का जीवन-लक्ष्य रहा है तथा जो उसके माध्यम से सारे संसार में फैलता जा रहा है। भारत इससे अछूता नहीं रहा है।

यदि भारत धर्म का त्याग कर देता है, तो वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि धर्म ही उसके सांस्कृतिक जीवन का शताब्दियों से मेरुदण्ड बना आया है। अतएव अब इस आदर्श को बदलना सम्भव नहीं, और वह आवश्यक भी नहीं है। हम बहुधा सुनते हैं कि धर्म ही हमारी वर्तमान दुरवस्था का कारण है, पर स्वामी विवेकानन्द का मत इसके विपरीत है। उनका कथन है कि धर्म का सही अर्थों में पालन न करना ही हमारे पतन का कारण है।

बिगड़ी बात को बनाने के लिए हमें पुनः धर्म का, उसके सही अर्थों में, ग्रहण करना पड़ेगा और अन्धविश्वासों के पीछे चलना बन्द करना होगा। हमें यह सही सही जान लेना होगा कि धर्म का अर्थ क्या है। सही धर्म के रास्ते पर, जहाँ से हम भटक गये थे, हमें पुनः खींच लाने के लिए विगत शताब्दी में हमारे इस देश में दो महान् आध्यात्मिक दिग्गजों का--श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का--जन्म हुआ। श्रीरामकृष्ण ने उपदेश दिया कि भगवान्-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है। आधुनिक विज्ञान की विचारधारा से प्रभावित संशयाकुल मानवता के सामने उन्होंने असन्दिग्ध शब्दों में घोषणा की कि ईश्वर हैं और यह कि उन्होंने स्वयं ईश्वर के दर्शन किये हैं तथा यह भी कि जो भी सम्यक् उपाय का अनुसरण करता है, वह भी ईश्वर के दर्शन कर ले सकता है। इससे ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जगत् के जो भी संशय थे, आपत्तियाँ थीं, वे सब दूर हो गयीं। श्रीरामकृष्ण के अनुसार, धर्म का तात्पर्य है अनुभूति, अर्थात् चरम सत्य

का अपरोक्ष साक्षात्कार। उन्होंने शास्त्रों का सही अर्थ सामने रखा, जो या तो भुला दिये गये थे, या फिर जिनकी गलत व्याख्या की जाती थी। उन्होंने यह भी बताया कि सभी धर्म ईश्वर-साक्षात्कार की ओर ले जाते हैं और वह भी प्रत्यक्ष अनुभूति के माध्यम से ही, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा प्रमाण है, जो आधुनिक वैज्ञानिक मन को प्रतीति प्रदान कर सकता है। श्रीरामकृष्ण ने अपने एकान्तिक त्याग-भाव के द्वारा कंचन और मिट्टी को समान दृष्टि से देखना सीखा था। अपने ऐसे विलक्षण त्याग से उन्होंने वर्तमान संग्रहशील समाज को यह पाठ पढ़ाया कि धन का संचय एवं दूसरे की जमीन पर छल-बलपूर्वक अधिकार एक मिथ्या प्रवंचना है। उन्होंने यह भी देखा कि वही आत्मा सबके भीतर विद्यमान है—जाति, वर्ण या रंग का उसमें कोई भेद नहीं है। धनी और निर्धन, ऊँच और नीच, शिक्षित और अपढ़ तथा हर नर और नारी के पीछे वही आत्मा रमा हुआ है, फिर वे किसी भी वंश या सम्प्रदाय के क्यों न हों। ये सब भेद मनुष्य-निर्मित हैं, काल्पनिक हैं। वे सागर के वक्ष पर नर्तन करनेवाली तरंगों की तरह हैं, जिनके नीचे बस जल ही जल है। इसी प्रकार यहाँ भी ये भेद केवल सतही हैं, और सबके पीछे वही आत्मतत्त्व विद्यमान है। इस दृष्टिकोण से सारी मानवता एक है और इसलिए राष्ट्रों या जातियों या वर्गों के बीच उन झगड़ों की कतई गुंजाइश नहीं, जो आज हम सर्वत्र विश्व में देखते हैं। इस उपदेश के उपसिद्धान्त के रूप में श्रीरामकृष्ण ने प्रतिपादित किया कि 'जीव की शिव के रूप में सेवा करो' और कहा कि इस भाव से की गयी जीव-सेवा ईश्वर-साक्षात्कार की ओर ले जाएगी। इस प्रकार, शताब्दियों से चलते आये कर्म और उपासना के विरोध को दूर कर उन्होंने दोनों को समन्वित किया—उन्होंने बताया कि कर्म उपासना बन सकता है, यदि वह सही भाव से किया जाय।

श्रीरामकृष्ण का यह सार्वजनीन सन्देश केवल भारत के लिए

ही नहीं है, अपितु समूचे विश्व के लिए है। हमें बाहर की दुनिया को इसका वितरण करना होगा। यही एकमात्र ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा हम अपनी भी सहायता कर सकते हैं, क्योंकि "विकास ही जीवन है और संकोच मृत्यु"। "हम पूर्व में इसे बहुत बार कर चुके हैं, और पुनः इस युग में एक बार और करना होगा।" आज विश्व श्रीरामकृष्ण के सन्देश की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है। यह इसी से स्पष्ट है कि जहाँ भी उनका सन्देश पहुँचा है, उसे बड़ी तत्परता के साथ ग्रहण किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण के इस विशिष्ट उपदेश पर बल दिया कि "जीव की शिव के रूप में सेवा करो" और उन्होंने जिस मठ और मिशन का गठन किया, उसके समक्ष 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' (अपनी मुक्ति के लिए तथा संसार के हित के लिए) का आदर्श रखा, क्योंकि इस युग में विश्व में शान्ति की स्थापना अत्यन्त अनिवार्य थी। उन्होंने चाहा था कि अद्वैत वेदान्त, जो तब अरण्यों और मठों में सीमित था, वहाँ से बाहर निकाला जाय तथा वह लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन में प्रतिष्ठित हो। यह साधित करने के लिए उन्हें श्रीरामकृष्ण के उस उपदेश में कुंजी मिली, जहाँ श्रीरामकृष्ण ने कहा था—"जीव की शिव के रूप में सेवा करो"।

स्वामीजी ने देखा कि इस आदर्श के आधार पर वे सब लोगों को, बिना मोक्षरूप राष्ट्रीय आदर्श से विचलित किये, देश के पुनर्निर्माण के कार्य में लगा सकते हैं। इस दिशा में, उनकी दृष्टि में, पहला कदम था जनसाधारण और नारियों की शिक्षा की व्यवस्था करना। वास्तव में, वे कहा करते थे कि जनसाधारण की उपेक्षा और नारियों की अवहेलना भारत के पतन के दो प्रमुख कारण रहे हैं। उन्होंने कहा, "जनसाधारण की उपेक्षा को मैं एक महान् राष्ट्रीय पाप मानता हूँ और वह देश के गिरने का एक कारण रही है। राजनीति की कोई भी मात्रा तब

तक व्यर्थ ही रहेगी, जब तक देश की जनता एक बार फिर से अच्छी तरह शिक्षित नहीं होती, जब तक उसे पेट भर भोजन नहीं मिलता और उसकी उचित रूप से देख-भाल नहीं की जाती। यदि हम भारत का पुनरुत्थान चाहते हैं, तो हमें जन-साधारण के लिए काम करना होगा।" हमें पिछड़ी जाति के लोगों को सांस्कृतिक रूप से उन्नत करना होगा और इस विचार को मन से निकाल फेंकना होगा कि 'उनको छूने या उनके साथ बैठने से हम दूषित हो जाएँगे'। ऐसी गलत धारणा का ही यह दुष्परिणाम है कि हम अपने आध्यात्मिक आदर्श को व्यावहारिक रूप देने में असफल रहे हैं। इससे राष्ट्र का नाश हुआ है। उच्च एवं धनिक वर्ग के लोगों को अपने उन अत्याचारों का मार्जन करना होगा, जो उन्होंने पिछड़ी जाति के इन गरीबों एवं असहायों पर ढाया है तथा अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए उन्हें उनकी सेवा करनी होगी। तभी देश के पुनर्निर्माण में सहायता मिल सकेगी। हमें उन पिछड़े लोगों को शिक्षा और संस्कृति का दान करना होगा, अपने आध्यात्मिक सत्यों का उनमें प्रचार करना होगा तथा कृषि, ग्रामोद्योग आदि के आधुनिक तरीकों की सहायता लेते हुए उनकी आर्थिक दशा को समुन्नत बनाना होगा। भारत की आज की अवस्था को देखते हुए यह प्रत्येक का कर्तव्य हो जाता है कि वह देश के सभी भागों में, समाज के सभी स्तरों पर श्रीरामकृष्ण के सार्वभौमिक सन्देश का प्रचार और प्रसार करे तथा जो पिछड़े हुए एवं आदिवासी जन हैं, उन कम भाग्यशाली लोगों के आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नयन के लिए प्रयास करे। इस प्रकार वह समाज के जीवन में फिर से नैतिक एव चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील हो, जिससे आज देश में व्याप्त स्वार्थपरता का अतिरेक दूर हो सके। यह घोर स्वार्थपरता विशेषकर कतिपय लोगों के बीच घर किये हुए है, जिससे सारे राष्ट्र की हानि हो रही है।

नारियों की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे वे बिना पुरुषों के हस्तक्षेप के अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझा सकें। आजादी के बाद इस दिशा में कुछ प्रगति हुई दिखायी देती है, पर और भी अधिक करने की आवश्यकता है। स्वामीजी ने कहा था, "शक्ति के बिना संसार का पुनरुद्धार नहीं हो सकता...। माँ (सारदा देवी) का जन्म भारत में उस अद्भुत शक्ति के पुनरुन्मेष के लिए हुआ है, और उन्हें केन्द्र बनाकर एक बार फिर से संसार में गार्गियों और मैत्रेयियों का जन्म होगा।" वे चाहते थे कि कुछ शिक्षित नारियाँ संन्यास का व्रत ले लड़कियों की शिक्षा का भार अपने कन्धों पर ले लें, जिससे उनको आदर्श नारियों के रूप में प्रशिक्षित किया जा सके। वे चाहते थे कि ये संन्यासिनियाँ गाँव गाँव जाकर इस प्रकार के कार्यों का संचालन करें, जिससे सारे देश का, और विशेषकर पिछड़े हुए लोगों का भला हो। आप सभी जानते हैं कि स्वामीजी द्वारा आकांक्षित ऐसी संस्था का जन्म पूर्व में ही हो चुका है और वह नारियों के उन्नयन के लिए स्वतंत्र रूप से भारत के विभिन्न भागों में कार्य कर रही है।

मैं यह कहना चाहूँगा कि भारत अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के माध्यम से ही उन्नति कर सकता है, जिसका उसने शताब्दियों से विकास किया है। भारत में ऐसा कुछ भी फलेगा-फूलेगा नहीं, जिसकी जड़ें धर्म में न हों। और धर्म में भी जो बातें भारत के सार्वभौम आदर्श के विरोध में जाएँगी, वे विक्षोभ की सृष्टि करेंगी तथा देश को स्वीकार्य न होंगी। जो कुछ मैंने कहा है, उसका न्यूनाधिक मात्रा में अभ्यास हम संन्यासी तथा गृहस्थ शिष्यों के द्वारा अब तक किया जाता रहा है। मैं गृहस्थ शिष्यों की बात विशेष जोर देकर कहता हूँ, और उससे मेरा तात्पर्य केवल व्यक्तियों से नहीं है, अपितु उन अनेक संस्थाओं से भी है, जो श्रीरामकृष्ण के नाम पर अस्तित्व में आयी हैं तथा जिनका संगठन

और संचालन गृहस्थ भक्तों द्वारा होता रहा है। ऐसे बहुत से भक्त भी यहाँ पर आमंत्रित हुए हैं, जिससे वे इस सम्मेलन और उसकी कार्यवाहियों से पूरा पूरा लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त कर सकें। मैं श्रीरामकृष्ण के सभी अनुयायियों से अपील करता हूँ कि वे भारत के नवनिर्माण के लिए व्यक्तिगत रूप से भी सक्रिय हों तथा देश के विभिन्न भागों में इस प्रकार की अधिक संस्थाएँ बनाकर उनके माध्यम से भी। कारण, संन्यासीगण इस दिशा में जो कुछ कर रहे हैं, वह अपने आप में उल्लेखनीय होते हुए भी देश की आवश्यकताओं को देखते हुए अत्यन्त नगण्य है। मैंने आपके समक्ष साधारण रूप से देश की वर्तमान आवश्यकताओं को रखा है और उनके सन्दर्भ में अपनी जिम्मेदारियों की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया है। इस सम्मेलन के अन्य वक्तागण आपको इन आदर्शों के सम्बन्ध में और भी समझाएँगे तथा उन व्यावहारिक उपायों की भी चर्चा करेंगे, जिनके द्वारा ये आदर्श समाज मे सघबद्ध रूप से कार्यशील बन सकें।

अन्त में, मैं आपको यह बताना चाहूँगा कि इतिहास में हम हर महान् सभ्यता के पीछे एक ऐसे महान् आध्यात्मिक दिग्गज को पाते हैं, जिसके जीवन और सन्देश ने एक नयी सभ्यता के सूत्रपात के लिए आवश्यक बल प्रदान किया, और इस प्रकार एक नये व्यवस्था-क्रम को, एक नये समाज को जन्म दिया। ईसाई सभ्यता, इस्लामी सभ्यता, बौद्ध सभ्यता तथा हिन्दू सभ्यता के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है। श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक सन्देश में एक नयी सभ्यता के नवोन्मेष की सम्भावना निहित है, जिसके लक्षण आज हमें संसार के विभिन्न भागों में सर्वत्र दिखायी दे रहे हैं। महान् मनीषियों द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थों में श्रीरामकृष्ण के सन्देश तथा भारतीय जीवन-पद्धति का उल्लेख है। अतएव हम लोगों पर अब एक महान् दायित्व न्यस्त हो जाता है कि हम इस

आदर्श के अनुरूप जियें तथा उनके सन्देश का प्रसार करें, जिससे एक नयी व्यवस्था यथाशीघ्र अस्तित्व में आ जाय—एक ऐसा समाज बन जाय, जिसमें संघर्ष और घृणा नहीं रहेगी, रहेगा केवल ऐक्य और प्रेम।

मैं श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभाइयों के नाम पर इस पावन भूमि में आप सबका स्वागत करता हूँ। उनका शुभाशीर्वाद हम सब पर वर्षित हो। मुझे विश्वास है कि उनकी कृपा से हम समस्त समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होंगे, जो आज हमारे सामने हैं तथा उन दोषों को दूर निकालने में भी, जो विगत चौवन वर्षों में हमारे भीतर अनलखे घुस आये होंगे। हम इस प्रकार अपने स्वयं के कल्याण के लिए तथा विश्व के हित के लिए संघ को और अधिक शक्ति से आगे बढ़ाने में समर्थ होंगे। समापन करते हुए मैं बस यही प्रार्थना करता हूँ—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।

लक्ष्य-प्राप्ति के लिए निरन्तर
बढ़े चलो तुम सब मिल-जुलकर।
वाणी में भी एक रहो तुम,
रहे नहीं कुछ मन का अन्तर॥
समझ परस्पर रहे तुम्हारी,
उत्तम, हृदय एक हो जाये।
मन-विचारणा एक बने सब,
पूर्ण एकता घर कर जाये॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

आश्रम समाचार

विगत वर्ष यानी सन् १९८० में आश्रम के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने का उल्लेखनीय कार्य हुआ, और वह था **विवेकानन्द चल-चिकित्सालय** का **अमरकंटक** के पावन क्षेत्र में शुभारम्भ। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में इस प्रकार के सेवा-कार्य की योजना हम लोगों के मन में कुछ समय से विशेष जोर पकड़ रही थी। रविवार, ९ नवम्बर १९८० को यह सपना साकार हो गया, जब रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने अमरकंटक में इस चलते-फिरते धर्मार्थ एलोपैथिक चिकित्सालय का उद्घाटन शंख-ध्वनि और करतालियों की गड़गड़ाहट के बीच सम्पन्न किया। ओरियंट पेपर मिल्स, अमलाई के सीनियर वाइस-प्रेसिडेण्ट श्री आई.एम. भंडारी ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की।

श्री रामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक एक रजिस्टर्ड धर्मादा ट्रस्ट है, जो कुछ समय से उस क्षेत्र में सेवा-कार्य चलाता आ रहा है। उसका विधिवत् उद्घाटन १२ मई १९७९ को रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस कार्यक्रम में मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री सी. एम. पूनाचा तथा तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्री पुरुषोत्तम कौशिक ने क्रमश: अध्यक्ष और प्रमुख अतिथि के रूप में भाग लिया था। उसके स्थानिक ट्रस्टी हैं श्री विजयसिंह पाल, जो हिण्डाल्को माइन्स के एजेण्ट हैं। उनके तथा श्री रामकृष्ण कुटीर के सहयोग से अमरकंटक के पिछड़े हुए आदिवासी क्षेत्र में इस चल-चिकित्सालय की सेवा-योजना को रूप देना सम्भव हो पाया। यह चिकित्सालय अमरकंटक को केन्द्र बना मंगलवार और शुक्रवार को मण्डला-जबलपुर के रास्ते मण्डला जिले में करंजिया तक, बुधवार और शनिवार को शहडोल के रास्ते शहडोल जिले में भेजरी तक तथा गुरुवार और रविवार

को कबा (चबूतरा-पेण्ड्रारोड के रास्ते बिलासपुर जिले में आमाडोब और केंवची तक जाकर अपनी सेवाएँ उस क्षेत्र के लोगों को प्रदान करता है। फिर, सप्ताह में तीन दिन सुबह वह नर्मदा-मन्दिर के सामने तथा तीन दिन सुबह श्री रामकृष्ण कुटीर के प्रांगण में अपनी सेवाएँ अर्पित करता है। इस प्रकार यह लगभग ६० किलोमीटर के घेरे में अपना कार्य कर रहा है। हमें यह देखकर प्रसन्नता है कि इस अल्प अवधि में ही बड़ी संख्या में (महीने में लगभग ५,०००) दूर दूर से रोगी आकर इस चिकित्सा-सेवा का लाभ ले रहे हैं।

इस पुनीत सेवा-कार्य का श्रेय हांगकांग के व्यापारी श्री एम. वी. मुरजानी को जाता है, जिन्होंने कनखल (हरिद्वार) स्थित रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के प्रमुख स्वामी वरेशानन्दजी के माध्यम से हमें इस कार्य के लिए तीन लाख रुपये का उदार दान दिया। इसमें से दो लाख रुपये उन्होंने चिकित्सालय की मोबाइल वान के लिए दिये तथा एक लाख रुपये उसके वार्षिक खर्च के लिए। हम दोनों के प्रति अपने हृदय का आभार व्यक्त करते हैं।

इस चलते-फिरते चिकित्सालय में अभी एक एम.बी.बी. एस. डाक्टर, एक सहयोगी चिकित्सक तथा एक प्रशिक्षित कम्पाउंडर कार्यरत हैं। इनके अतिरिक्त चालक तथा अन्य लोगों की भी सेवाएँ ली जा रही हैं। इन सबके वेतन तथा दवाओं आदि पर वर्ष में लगभग डेढ़ लाख रुपये का खर्च अनुमानित है। यह कार्य लोगों के उदार आर्थिक सहयोग के बल पर ही हम चलाने का साहस कर पा रहे हैं। अत: हम सभी से अपील करते हैं कि वे इस पुनीत सेवायज्ञ में हमारा हाथ बटाने सामने आएँ और उदारतापूर्वक हमें दान दें।

दान की राशि चेक या बैंक-ड्राफ्ट के सहारे 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम चल-चिकित्सालय' के नाम पर रायपुर के पते पर भेजी जा सकती है।

०

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९८१

कार्यक्रम

★ शनिवार, १० जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

विषय :–"वर्तमान सन्दर्भ में विवेकानन्द के उपदेशों की प्रासंगिकता"

★ रविवार, ११ जनवरी — सुबह ८॥ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

★ रविवार, ११ जनवरी — सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

विषय :– "इस सदन की राय में अल्पसख्यक-बहुसख्यक का विभेद करते हुए अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर विशेष नियम-कानून की व्यवस्था कायम रहने देना ही देश में सारे झगड़ों का कारण है।"

★ सोमवार, १२ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

★ मंगलवार, १३ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

विषय :– "यदि स्वामी विवेकानन्द मुझसे प्रसन्न हो कहते कि वर माँगो तो मैं उनसे यह माँगता—"

★ बुधवार, १४ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

विषय :– "इस सदन की राय में विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण का दायित्व अध्यापकों की अपेक्षा अभिभावकों पर अधिक है।"

★ गुरुवार, १५ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

विषय :– "युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द"

★ शुक्रवार, १६ जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

विषय :– "इस सदन की राय में आज की हालात में सज्जनता की

अपेक्षा धूर्तता राजनैतिक सफलता के लिए कहीं अधिक कार्यकरी है।"

★ शनिवार, १७ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

★ रविवार, १८ जनवरी सायंकाल ६॥ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

विषय :- "स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्र को दिशा-बोध"

अध्यक्ष : श्रीमत् स्वामी व्योमरूपानन्द जी महाराज, नागपुर

मुख्य अतिथि : महामहिम श्री भगवत दयाल जी शर्मा
राज्यपाल, मध्यप्रदेश

प्रमुख वक्ता : श्रीमत् स्वामी भाष्यानन्द जी महाराज, शिकागो

★ १९ जनवरी से २३ जनवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : श्री राजेश रामायणी

★ २४ जनवरी से १ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकर जी महाराज

स्वामी विवेकानन्द का ११९ वाँ जन्म-तिथि-उत्सव

★ मंगलवार, २७ जनवरी प्रात: ५ बजे से १२ बजे तक

श्री माँ सारदा देवी का १२८ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मन्दिर में) रविवार, २८ दिसम्बर १९८०

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में)

रविवार, ४ जनवरी १९८१ सन्ध्या ५ बजे से

श्रीरामकृष्ण देव का १४६ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मन्दिर में) रविवार, ८ मार्च १९८१

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में)

★ रविवार, ८ मार्च १९८१ सन्ध्या ५ बजे से

विवेकानन्द चल-चिकित्सालय

दो और दृश्य

एक सेवा-केन्द्र में उपस्थित रोगियो की भीड़

सड़क पर चलता-फिरता दवाखाना

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. RN 7764/63

श्रीरामकृष्ण उवाच

यहाँ का भाव क्या है जानते हो ? पुस्तक-शास्त्र ये सब ईश्वर के पास पहुँचने का केवल मार्ग भर बता देते हैं। पथ, उपाय जान लेने पर फिर ग्रन्थों का क्या प्रयोजन ? तब तो स्वयं ही काम करना पड़ता है।

एक को चिट्ठी मिली थी। उसमें लिखा था कि छुट्टी में घर आने पर क्या क्या लाना होगा। खरीदने के समय चिट्ठी कहीं खो गयी थी, खोजे नहीं मिल रही थी। बहुत देर बाद बहुत लोगों के खोजने पर वह चिट्ठी मिली। तब उसके आनन्द की सीमा न रही। उसने चिट्ठी पढ़ ली। बस, अब चिट्ठी की जरूरत नहीं रही। उसे फेंककर जो चिट्ठी में लिखा था, वह खरीदने चला गया। उसी प्रकार शास्त्र उन्हें पाने का उपाय बताते हैं। उपाय जानकर उसमें लग जाओ।

केवल पाण्डित्य से क्या होगा ? पण्डित को बहुत से श्लोक, बहुत से शास्त्र मालूम हो सकते हैं, पर जिसकी संसार के प्रति आसक्ति है, कामिनी-कांचन के लिए भीतर ही भीतर आकर्षण है, उसने शास्त्रों की ठीक ठीक धारणा नहीं की, उसका पढ़ना व्यर्थ है। पंचांग में लिखा है, बीस इंच पानी, पर पंचांग को दबाने से एक बूंद भी जल नहीं निकलेगा। कम से कम एक बूंद तो गिरे, पर एक बूंद भी नहीं गिरती ! (सभी हँसते हैं।)

पण्डित बड़ी लम्बी-चौड़ी हाँकता है। पर उसकी नजर कहाँ रहती है ? कामिनी और कांचन में, देह के सुख और रुपये में। चील बहुत ऊँचे उड़ती है, पर नजर रहती है मुर्दे पर। (सभी हँसते हैं।) उसकी नजर बस यही खोजती रहती है– कहाँ कोई जानवर मरा है, कहाँ मुर्दा है।

-- ११ मार्च, १८८५